

हिन्दी के

यथार्थवादी कथाकार

देवेन्द्र सत्यार्थी

की

'और पहिये घूम रहे थे'

तथा

दस अन्य कहानियाँ

हिन्दी के
यथार्थवादी कथाकार
भैवान सत्यार्थी
की
'और पहिये घूम रहे थे'
तथा
दस अन्य कहानियाँ

शैवाल सत्यार्थी

जन्मः २ अगस्त, सन् १९३५ को—भिण्ड (म० प्र०) के ऐतिहासिक दुर्ग में, ग्वालियर के सुविख्यात लोक-प्रिय जज श्री कन्हैयालाल जी के यहाँ

किशोरावस्था से ही साहित्य-सृजन में अभिरुचि। कहानी, निबन्ध, कविता, उपन्यास, आलोचना और साहित्यिक इण्टरव्यू आदि विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों के क्षेत्र में कार्य किया है

आजकल, साहित्यिकों से इण्टरव्यू प्राप्त करने में संलग्न हैं। निकट भविष्य में ही, इनकी दो नयी पुस्तकें—'इण्टरव्यू' तथा 'जिंदगी मुसकराती है' (उपन्यास) प्रकाशित होंगी



—शैवाल सत्यार्थी

प्र का श क

ज्ञानमंदिर प्रकाशन

लश्कर (ग्वालियर)

* प्रकाशक

ज्ञानमंदिर
पाटनकर बाजार
लश्कर (ग्वालियर)

* मूल्य

दो रुपये आठ आने

* भूमिका

उपन्यास-सम्राट्
श्री वृन्दावनलाल वर्मा

* कसौटी पर

कविवर
डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन'

* रूप-सज्जा

श्री विमलकुमार
श्री सुरेन्द्र भटनागर

* कथाकार का छवि-अंकन

श्री खलील, श्री हबीब
श्री रमेश अष्टाना

* मुद्रक

लोक-कला प्रेस,
लश्कर (म० प्र०)



भूमि



मैंने श्री शैवाल सत्यार्थी की कहानियाँ पढ़ी हैं। उनमें भाव है, घटना है, चरित्र-चित्रण है और है कलामय गठन !

शैवाल के कहानी-संग्रह 'और पहिये घूम रहे थे' में चुभन है, भावस्पर्श करने की मार्मिकता है, और है विकास की प्रवृत्ति। मार्ग उनका प्रशस्त है ! बस, आँखें खोलकर चलें, चलते जाएँ; एक दिन आएगा, आकर रहेगा जब वह अपने-आप को बहुत ऊँचाई पर पाएँगे ! अपनी कृति और कला में, वह इस कारण अतृप्त रहें कि विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए, मार्ग के काँटे-कंकड़ों को रौंदते हुए, बराबर साहित्य और कला की—व्यक्ति और समाज की सेवा करनी है।

साहित्य-सृजन साधना चाहता है जिसे श्री शैवाल कर रहे हैं। मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं कि वह तत्परता के साथ साधना करते रहें।

पहिये घूम-घूमकर ही तो आगे बढ़ते-बढ़ाते हैं !

झाँसी
२९-५-१९५८

— वृन्दावनलाल वर्मा

कसौटी पर



श्री शैवाल सत्यार्थी हिन्दी के उदीयमान कहानी-लेखकों में से हैं। 'और पहिये घूम रहे थे' में उनकी साधना के प्रारम्भिक सोपानों का आरोहण अंकित है।

शैवाल की संवेदनशीलता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टि इस बात की साक्षी है कि कहानी के क्षेत्र में उनके चरण-चिन्ह पत्थर पर भी अपनी छाप छोड़ सकेंगे!

कथा-वस्तु के संयोजन तथा कुतूहल के सृजन में, उनकी प्रतिभा पूर्ण पटु है। साथ ही, व्यंजना की सांकेतिकता से भी वे भलीभाँति परिचित हैं। चरित्र के वैशिष्ट्य और समाजीकरण के समन्वय की ओर भी, उनका ध्यान विशेष रहता है, जिससे भविष्य में अतिकथावाद की एकांतिक विभूति में उनका मार्ग रुद्ध नहीं हो सकता।

मानव-हृदय की व्यापक संवेदना को संबल बनाकर, शैवाल ने जिस तपःपूत आराधना को कला का रूप देना चाहा है, वह श्रेय और प्रेय दोनों है!

कलाकार की अमरता, जीवन के बिखरे उपकरणों के भीतर ही अणु-शक्ति की भाँति अंतर्निहित रहती है! मैं श्री शैवाल के कलाकार-कथाकार जीवन की चरितार्थता चाहता हूँ।

भारतीय दूतावास,
काठमाण्डू (नेपाल)

(डॉ०) शिवमंगलसिंह 'सुमन'

जीवन में जिनसे मिला
सब-कुछ, किन्तु दे
जिन्हें कुछ भी
न सका

पूज्य
पिताजी और माताजी
के श्रीचरणों में
यह विनम्र श्रद्धांजलि-पुष्पांजलि

कथा-क्रम

सुबह की मंज़िल

हावड़ा मेल के पहिये पटरियों पर घूमने शुरू हो गए थे। इससे पहले कि वे तेजी पकड़ें, एक परेशान-सा नौजवान गाड़ी की रेलिंग के सहारे गिरते-गिरते ऊपर चढ़ा। रात का वक्त था, डिब्बे के लगभग सभी मुसाफिर, रात की आखिरी नींद में गाफिल अपनी-अपनी बर्थ पर बेखबर थे। वह आकर एक ओर खड़ा हो गया, हाँफता हुआ-सा। कुछ टूटते-फूटते-से शब्द मेरे कानों से टकराए, "...ओह, शुक्र है ...परवरदिगार!" फिर एक हलकी-सी कँपकँपी ने उसके सारे शरीर को केले के पत्ते-सा हिला दिया, "रहम कर मालिक, मुभपर!" उसने फिर कहा।

मैं उस समय तक अपनी बर्थ पर अधलेटा हो चुका था, किन्तु उसकी दर्दनाक हालत ने मुझे इस प्रकार लेटे न रहने दिया, उठ बैठने के लिए मजबूर किया।

"आइए न, यहाँ बैठ जाइए।" मैंने अपनी बर्थ की ओर इशारा करते हुए, उससे सहज ही कहा।

"ओह शुक्रिया, मेहरबानी आपकी।" इतना कहकर सिमटा-सिकुड़ा-सा वह बर्थ की एक ओर बैठ गया।

गाड़ी ने सीटी दी, रुकना चाहती थी शायद। एक झटका लगा और, वह मुझसे सट गया। उसने मेरी ओर देखा, एक फीकी हँसी हँसा और दूसरी ही सायत, अपना मुँह उसने दूसरी ओर कर लिया।

एक सायत, सिर्फ एक सायत के इस दीदार पर मैंने महसूस-सा किया कि शायद उसे मुसकराये हुए भी एक जमाना गुजर चुका था। जो कुछ अभी मैंने देखा, वह तो एहसास के नाम पर था—इंसानियत और शराफत के क़ायदे की खानापूरी।

"मिजाज कैसे हैं जनाब के?" मैंने अब पूछा। प्रश्न गम्भीर था और मजाक के लिए उसमें थोड़ी भी गुंजाइश न थी।

"मिजाजे-गरीबाँ का क्या पूछते हो? खुदा का करम, मेहरबानी तुम्हारी! जिन्दा हूँ दोस्त, बस—सो तुम देख ही रहे हो।" उत्तर कुछ मजाक के-से लहजे में दिया गया था। मुँह उसका, उस तरफ ही था। मेरे चेहरे को पढ़कर और मेरी आँखों की गहराई में झाँककर शायद वह अपनी ग़लतफ़हमी दूर कर सकता था, मैंने सोचा।

"माफ करना भाई, तुमने मुझे ग़लत समझा। मेरा यह मतलब न था, जो तुमने···!"

"जी हाँ जनाब, और हुजूर ने भी ग़रीब को समझने में ग़लती की है!" उसने बीच में ही कहा। अब वह मेरी ओर घूमा, मैंने देखा—वह हँस रहा था। मेरे चेहरे की आकृति उसके लिए और उसके मुँह की मुसकराहट मेरे लिए—दोनों की मुश्किलों का हल थीं! उसकी इस नई कोशिश ने, खुशी ने, मुझे भी खुश होने के लिए मजबूर किया।

समझने के लिए कुछ और बाक़ी न था। नासमझों की बात दूसरी है, लेकिन समझदार को इशारा ही बहुत काफी होता है। वह मेरे पास

खिसक आया और अपना हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने उसका हाथ अपने दोनों हाथों में दबा लिया। ग़लतफ़हमियाँ तो पहले ही ग़लत हो गईं थीं, जो दूरी थी वह भी अब सिमिट-सिकुड़कर नज़दीक आ गई थी। मैल धुल गया, दिल साफ़ हो गए!

"तुम कहाँ जा रहे हो?" उसने ही पहले सवाल किया। अब वह खुलने लगा था और 'आप' चलते-चलते 'तुम' तक आ गया था।

"लखनऊ···और तुम?" आधा प्रश्न का उत्तर था और आधा उत्तर के लिए प्रश्न।

पुरानी परेशानी शायद उसकी आँखों में बेबसी बनकर उतर आई थी। उसका जवाब मिलने से पहले ही मैंने समझने की कोशिश की।

"ठीक कुछ कह नहीं सकता, दोस्त।" उसने नहीं, शायद उसकी परेशान बेबसी ने उत्तर दिया, किन्तु इस बार वह पहले वाली कँपकँपी अब न थी। शायद उसकी बाक़ी हिम्मत ने लाचारी और बेकसी के खिलाफ़ उसे बग़ावत करने के लिए मजबूर कर दिया था। मजबूरी की भी एक हद होती है, मैंने सोचा, और यह सोचकर उसकी नई ज़िन्दादिली और परेशानियों के बावजूद, बहादुरी के साथ उसका एलाने-जंग देखकर मुझे बेहद खुशी हुई।

सुबह होने में अभी देर थी कि झटके के साथ गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकी। बातों में मशगूल हम यह न जान सके कि कौन-सा स्टेशन है। जानने की कोशिश ही नहीं की और गाड़ी फिर चल दी—धुएँ के बादल उड़ाती हुई, रात की खामोश स्याही को चीरती-तैरती।

"एक खास बात तो रह ही गई, मेरे दोस्त।" मैंने उस खामोशी को खत्म किया।

"क्या है वह ?" उसने ताज्जुब में, एकदम पूछा। उस समय वह खिड़की से बाहर, अँधेरे के साये में, आँखें गड़ा-गड़ाकर कुछ तलाश कर रहा था और मिलते-मिलते जैसे वह खो गया हो। वह गुनगुना रहा था—

इन अँधियारी रातों के हम राही,
डब-डब करते तारे हैं हमराही,
गाना यहाँ मना, मना है शोर—
और दूर है, वह मंज़िल की ओर···

"हम अभी मिले और इतनी जल्द घुल-मिल गए कि एक-दूसरे का नाम ही जानने की कोशिश नहीं की। खैर, मुझे शेखर के नाम से जानो और तुम···?" नाम जानने के लिए मैंने उसकी ओर देखा।

"नाम ? तुमने नाम पूछा न, शेखर ? सो तुम मुझे गुमनाम ही समझो तो बेहतर है। नाम मेरे ख्याल में दुनियावी तहज़ीब की नुमाइश का एक दिखावा है। एक ज़रूरी मगर बेहूदी ज़रूरत—जिसे कम-से-कम मुझ जैसे शामत के मारों को तो हमेशा-हमेशा के लिए भूल ही जाना चाहिए।" समाज और सामाजिक मर्यादाओं के ख़िलाफ भी उसका बाग़ी दिल बग़ावत कर बैठा था—मुझे ऐसा ही लगा।

"···और वैसे तुम जिस तरह चाहो, मुझे आवाज़ दे सकते हो। ज़माने की रफ्तार के साथ-साथ मेरा नाम भी तो पुराना हो गया है, शेखर! दो, तुम आवाज़ दो न मुझे दोस्त !" उसने आगे कहा।

"काँग्रेचुलेशन, मुकेश मियाँ !" मैंने कुछ सोचकर उसकी पीठ पर हाथ मारते हुए कहा।

"काँग्रेचुलेशन ?" उसने दुहराते हुए हैरानी से पूछा—"कैसा,

किसलिए भाई ? तुम्हारा 'कॉग्रेचुलेशन' तो इस समय मेरे लिए 'साइन ऑफ इण्टॉगेशन' बन गया है। जल्दी बोलो शेखर, कहीं वह 'साइन ऑफ एक्सक्लेमेशन' न बन जाए—और 'मुकेश'…!"

"नहीं, नहीं। देखो मैं तुम्हारा 'साइन ऑफ—?' अभी हल किए देता हूँ। बात यह है दोस्त, तुम गाते अच्छा हो। मैंने सुना न अभी, इसी से। तुम्हारा नाम हुआ—मुकेश ! भला, तुम उससे भी अच्छा गाते हो, खैर…।" उसकी रजामंदी के लिए मैं उसके चेहरे पर आँखें गड़ा-कर मुसकरा दिया।

"मंजूर, एकदम मंजूर।" खुशी से पागल-सा वह उछलकर मेरे गले से लग गया—"भला तुम्हारी बात भी न मानने की चीज है ?" वह नहीं, शायद उसका ईमानदार दिल बोल रहा था।

और फिर, आखिर तक उसकी जिन्दगी के राज को कुरेदने की हिम्मत मैं न कर सका। मैं सोचता ही रहा—ऐसा न हो कि कहीं वहशत खाकर, कोई नया पागलपन सिर उठाए ! मैं अपनी जुबान को मजबूती से लगाम ही दिए रहा कि लखनऊ आ गया और गाड़ी स्टेशन पर आ लगी।

स्टेशन से बाहर होते ही, उसे कुछ सोचने का मौका दिए बिना ही मैंने एक ताँगे की ओर इशारा करते हुए उससे कहा, "बैठो,मुकेश।" उसने कुछ कहा नहीं। शायद कहने के लिए गुंजाइश न थी और न मौका ही। वह बैठ गया, मैं बैठ गया—ताँगा चल दिया।

"हजरतगंज।" मैंने ताँगेवाले से कहा।

लखनऊ…? मैं देख रहा था, सोच रहा था—जहाँ के रंगीन खँडहर आज भी, नवाब वाजिदअली शाह की रंगीनियों को, शाही

महलों की याद ताजा कर रहे थे। जहाँ की शाम-ए-अवध, दुनिया के बेहतरीन अजायबघर की एक जीती-जागती और दिलचस्प नुमाइश थी। अवध की वे शामें तो आज भी होती हैं, मगर उन्हें देखनेवाली पर्दा-नशीन बेगमें और उनके नाजुक शौहर—वे बादशाह, अब न रहे।

सब वक्त की बात है। जो पहले था वह अब नहीं है, और जो अब है वह आगे न रहेगा। जमाने-जमाने का फर्क हुआ करता है। किन्तु, मुकेश क्या कर रहा है? यह जानने के लिए मैंने उसकी ओर देखा—वह भी देखने-सोचने में मशगूल था, वही शायद जो मैं। कुछ भी हो, उसे छेड़ना मैंने ठीक न समझा।

रास्ते में एक जगह, चौराहे के सरकारी नल पर—कुछ हल्ला-सा हो रहा था, कुछ शरणार्थी लोग थे। एक औरत भी थी उनमें, शायद औरत होने के कारण पानी लेने में कामयाब नहीं हो रही थी; दूध नहीं—पानी, सिर्फ पानी! इन्सानियत के पतलेपन की और क्या हद हो सकती है? सोचने के साथ ही, मैंने मुकेश की ओर देखा—न जाने क्यों, उसकी आँखें भरी-भरी-सी थीं जो शायद खाली हो जाने के लिए मचल रही थीं।

"क्या करते हो, मुकेश? पागलपन की भी एक हद होती है।" उसे चलते ताँगे पर से कूदने की कोशिश करते देख, मैं चिल्लाया।

"कुछ भी तो नहीं।" दुबारा बैठते हुए उसने अपने होश में कहा, जो खोकर शायद फिर वापस मिल गया था।

आखिर है क्या यह सब, एक अजीब राज है! मैंने मन ही मन सोचा, लेकिन परेशानी अब हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गई थी—मुझे महसूस हुआ, दिल कुछ बोझिल हो गया था।

हजरतगंज आ गया ! तांगेवाले को पैसे देकर मैं मुकेश के साथ एक ओर बढ़ा । आगे-आगे मैं, पीछे-पीछे वह । एक मकान के दरवाजे पर रुककर, मैंने साँकल खटखटाई ।

“आय गए बाबूजी ? बड़े दिन लगाए !” किवाड़ खुलने के साथ ही, बूढ़े पिलखू ने खीसें निपोरते हुए कहा । उसके मुँह की थकी झुर्रियाँ, शायद जिन्दगी में एक बार फिर मुसकराने की कोशिश कर रही थीं ।

मुकेश के साथ मैं भीतर गया । चारपाई पर बैठने के साथ ही, मैंने बारी-बारी से मुकेश और पिलखू के चेहरों पर नजर दौड़ाई; मेरा खाली और सुनसान मकान मुकेश के लिए तथा उसका नया चेहरा पिलखू के लिए—दो सवाल थे जो अपना-अपना जवाब चाहते थे ।

“अरे हाँ, पिलखू ! देखो यह हैं मेरे नये दोस्त—जाति से मुसलमान और दिल के साफ, जितना तेरा चौका भी नहीं है, हाँ रे ! समझा कुछ ?” चौके के नाम से, बूढ़े के दाँत बाहर निकल पड़े, हो-हो करके वह हँस पड़ा । उसकी हँसी कुछ ऐसी अजीब थी कि हम लोग जितना उसे देखते थे, उतना ही हँसते-हँसते और भी लोट-पोट हुए जा रहे थे ।

पिलखू के चेहरे की तजुर्बेदार झुर्रियाँ कुछ फैलते-बिगड़ते अपनी पुरानी शक्ल में लौट आईं । मुकेश के चेहरे पर उसने एक सरसरी निगाह डाली; उसका पैंसठसाला दोस्त—तजुर्बा, उसके साथ ईमानदार था, जिससे जमाना देखा था । उसकी रफ्तार से वह बखूबी वाकिफ था ।

“और, मुकेश भाई !” आगे मैंने कहा—“अपने राम को तो तुम देख ही रहे हो, यही है मेरी दुनिया और उसमें मस्त मैं ! और हाँ दोस्त ! तुम्हारे, मेरी इस दुनिया में आ जाने से उसकी मस्ती बढ़ेगी

ही घटेगी नहीं—ऐसी मैं उम्मीद करता हूँ। क्यों गलत तो नहीं कहता, मेरे भाई ?"

"नहीं शेखर, बिलकुल नहीं ! तुम्हारा ग़लती से क्या रिश्ता, क्या वास्ता ? तुम मिट्टी के इस शरीर में फरिश्ते हो, दोस्त !" अपनी बाँहों में मुझे लपेटते हुए उसने कहा। वह बहुत खुश था।

पिलखू खी-खी करता हुआ, हमारे नहाने-धोने और खाने की तैयारी के लिए, वहाँ से खिसक गया।

मनुष्यता का भार ढोनेवाली, अमृतसर से एक गाड़ी में बैठने-वालों में मासूम बदक़िस्मत एक मुस्लिम लड़की भी थी—पेट में कुछ लिए हुए, पाप की कहानी नहीं, अपने शौहर की शायद आख़िरी निशानी, एक क़ीमती और खूबसूरत अमानत ? उसने अपने गुज़रे हुए ज़माने पर नज़र दौड़ाई और लम्बी-लम्बी हिचकियों-सिसकियों में डूबने-उतराने लगी। कौन जानता था कि शादी की शहनाइयाँ, मातमी बाजों में बदल जाएँगी और ज़िन्दगी की खुशहालियों के मस्त तरानों की जगह ग़मगीन मरसिया होगा !

शादी को ही कौन ज़माना हुआ था, अभी तो हाथों की मेहँदी भी सलामत थी; लेकिन तक़दीर की लिखावट भला कौन पढ़ सकता है ? ठंढे दिल से उसने सोचा और अपनी बेसब्री पीने की कोशिश की।

मुसीबतें जब आती हैं, तो परेशानियों का तूफान साथ लाती हैं। खुदा-न-खास्ता सफर में ही उसके बच्चा पैदा हुआ, वह बेहोश हो गई। पहला-पहला बच्चा था, नया-नया तजुर्बा—ज़िन्दगी की पथरीली राहों में। गुंडों की दुनियाँ में कमी नहीं है, न जाने बू लग जाती है कि कम्बख्त सूँघ-सूँघकर पहुँच जाते हैं !

इलाहाबाद के गौरीशंकर मंदिर के पुरोहित वृद्ध रामानन्द भी उसी डिब्बे में थे। उनसे न रहा गया, सोचा—'सब उस नीली छतरी वाले की मरजी है, उसके लिए क्या हिन्दू और क्या मुसलमान ?' झट से उन्होंने एक कुशल वैद्य की भाँति उसे अपने इलाज में लिया—गुंडों के जोश ठंडे पड़ गए, इरादे पस्त। लड़की को जब होश आया तो पंडितजी ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "पड़ी रह बेटी, कोई चिन्ता की बात नहीं है। अपनी तक़दीर तो देख—तेरे लिए चाँदनी नहीं, पूरा का पूरा चाँद धरती पर उतर आया है ! आज से तू मेरी धर्म-बेटी हुई।"

लड़की ने कुछ-कुछ समझते हुए अपनी बगल में देखा—चाँद का एक सजीव टुकड़ा उसे दिखाई दिया ! उसने कृतज्ञता की बोझिल आँखों से अपने धर्म-पिता की ओर देखा—आँखें डबडबा आईं, जिनमें श्रद्धा, प्रेम और सबसे ऊपर मनुष्यता की लहरें हिलोरें ले रही थीं !

"बापू···!" उसने हर्षातिरेक में कहा।

"मेरी बच्ची !" पंडितजी भावविह्वल हो उठे। फिर वह निश्चिन्तता की गहरी नींद सो गई।

उसे लेकर पंडितजी, प्रयाग के अपने चौबेबाड़ा वाले मकान पर पहुँचे। घर वालों ने मुँह ही मुँह में और बाहर वालों ने कानों ही कानों में कानाफूँसी की, किन्तु पंडितजी के अभ्यस्त कानों पर जूँ तक न रेंगी। यह ऐसा मौक़ा था जब कि पंडितजी मंदिर-मसजिद, हिन्दू-मुसलमान की सीमित-संकुचित परिधि से निकलकर इन्सानियत के बड़े दायरे में पहुँच चुके थे।

ज़माना अपनी पुरानी रफ़्तार से गुज़रता गया। दुनियाँ जैसी चल रही थी, चलती रही। न तो दुनियाँ की चाल में ही कोई फ़र्क़ आया

और न दुनियाँ वालों का हाल ही कुछ बदला। किन्तु समय का मरहम, मनुष्य के हरे घावों पर, विस्मृति के पर्त चढ़ाता है और धीरे-धीरे दुःखद स्मृति का गहरा घाव स्वतः ही पुर जाता है !

पंडितजी ने, किन्तु, अनुभव किया कि शबनम—यही नाम था उनकी धर्म-बेटी का—अपने जीवन से खुश नहीं है ! एक अजीब-सी उदासी हर समय उसके चेहरे पर छाई रहती है—कभी मुसकराती भी है तो कोशिश करके, और वह भी शायद एहसान के नाम पर !

एक दिन साहस करके कि कहीं उसके हृदय का छाला धक्का खाकर फूट न जाए, पंडितजी ने पुकारा—"शबनम बेटी !"

"क्या है बापू, तुमने मुझे बुलाया ?" शबनम ने आकर पूछा।

"हाँ बेटी, बैठो। तुमसे कुछ बात करनी है।" पंडितजी ने उसे पास बैठाते हुए कहा—"शबनम, यह पहाड़-सी तेरी जिन्दगी कैसे कटेगी ? बस, यही चिन्ता हर समय छाया की भाँति मेरा पीछा किया करती है ! तूने अभी जिन्दगी में, जिन्दगी के नाम पर, देखा ही क्या है, मेरी बच्ची ? अगर तेरी दूसरी शादी…!"

शबनम का होंठ शायद दाँतों में आ गया था, खून निकल आया… अम्मी-अम्मी की रट लगाता हुआ, नाना का प्यारा—माँ की आँखों का तारा मुन्ना अन्दर घुस आया और आकर माँ की गोद में छिप गया। सहारा पाकर वह रो पड़ी—"नहीं बापू, अब तुम मुझ बदकिस्मत बेटी के लिए, ज्यादा परेशान न हो। इतना ही क्या कम है ? यही कर्ज इतना है कि एक नहीं कई जिन्दगियों में चुकाना मुश्किल है ! और ज्यादा वजन यह जमीन सह न पाएगी, बापू; और रही शादी की बात, सो…" मुन्ने के बालों में उँगलियाँ उलझाते हुए उसने कहा—"जीने के लिए यही उम्मीद और सहारा क्या कम है बापू…!"

और रोती हुई भीतर चली गई। पंडितजी ने साफी से अपने आँसू पोंछ लिए—कुछ साफी में सूखते गए, कुछ आँखों में उभरते आए!

आज दीवाली है! घर-घर में जीवन अँगड़ाई ले रहा है, हृदय-हृदय में आशा और उल्लास मुसकराहटों की हाट सजा रहे हैं! बाजारों में हलचल है—जीवन में गति है, स्पन्दन है!

पंडितजी के बड़े लड़के कृष्णानन्द ने माँ से आकर कहा—"आज रात को माँ, मेरे दोस्त आ रहे हैं, लखनऊ से। शेखर की तो तुम्हें याद होगी न माँ? उनके खाने के लिए कुछ···!"

"हाँ बेटा, सब हो जाएगा। देख नहीं रहा क्या—सुबह से ही शबनम और पूनम तैयारी में जुटी हुई हैं। आज तो बड़ी दीवाली है, बेटा! कुछ इधर-उधर से भी तो आएगा ही, हाँ?" पंडिताइन ने उल्लास में, जरा जोर से कहा।

पंडितजी पास के ही कमरे में थे, झट से आँगन में आ गए—"हाँ, हाँ। इधर-उधर से क्यों नहीं आएगा? ठेका जो ले रखा है यजमानों ने। किशन बेटा, जरा पूछ तो अपनी अम्माँ से कि ये यजमान क्या इसके बाप के कर्जदार हैं?" फिर खुद ही कह लिया—"हाँ भाई, इस जन्म के नहीं तो उस जन्म के होंगे; पंडिताइन तो यही कहेगी, क्यों न भला?" और पंडितजी ने अपनी ऊँची हँसी से सारा घर-आँगन हिला दिया।

"देखो जी, तुम हमेशा बाप तक मत पहुँच जाया करो—कोई ऐसे-वैसे थे हमारे बाप? असली चौबे थे मथुरा के, हाँ! मैं लड़ना नहीं

चाहती, आज त्यौहार का दिन है और तुमने शुरू कर दिया झगड़ा, हाँ !" पंडिताइन ने तुनकते हुए कहा ।

"अच्छा भाई, मान लिया कि तुम्हारे बाप असली पण्डा थे और तुम भला किससे कम हो ? निकालो फिर पाँच रुपये, किशन को दो मीठे के लिए—आज तो दीवाली है, दीवाली, हाँ !" पंडितजी ने रंग चढ़ाया ।

बात यहाँ की यहीं रह गई । झगड़ा किसी समझौते पर पहुँचे कि बाहर से किसी ने आवाज़ दी । 'लो आ गए' कहता हुआ कृष्णानन्द बाहर को भागा । लेकिन कौन आ गए, यह जानने की अब आवश्यकता न थी—स्थिति दोनों की ही नाजुक थी ! पंडितजी ने पंडिताइन की ओर देखा, पंडिताइन ने पंडितजी की ओर—दोनों की ही आँखों में एक मौन विवशता थी । दोनों हँस पड़े, समझौता हो गया !

हँसी का फव्वारा बाहर की तरफ भी सुनाई दिया और कृष्णानन्द अपने दोस्तों के साथ आँगन में आ गया ।

"अरे, शेखर बेटा ! तुम तो ईद के चाँद हो गए, लखनऊ क्या गए !" पंडित रामानन्द ने प्रसन्नता से पूछा ।

"नहीं पुरोहितजी, मैं नहीं—ईद का चाँद तो मैं साथ लाया हूँ अपने !" मुसकराकर मैंने मुकेश की ओर देखा—"मेरे नये दोस्त, मुकेश ।" उसने हाथ जोड़ दिए, पंडितजी ने आशीर्वाद दिया ।

"बैठो बेटा, खड़े क्यों हो ?" पंडिताइन ने कहा और भीतर आवाज़ दी, "शबनम, अरी ओ शबनम बेटी ! खाने को तो कुछ ले आ लड़कों के लिए, हाँ ।"

पूनम और शबनम ऊपर छज्जे में दीप-पंक्तियाँ सजा रही थीं ।

एक तेल डालती जा रही थी और दूसरी दीप से दीप जला रही थी। एक दीप-शिखा दूसरी को स्नेह-दान दे रही थी, और जग-मग दीप-मालाएँ संसार को आलोक प्रदान कर रही थीं। धर्म से अधिक संस्कृति खिल रही थी मिली-जुली!

"आती हैं, माँ!" पूनम और शबनम का सम्मिलित स्वर सुनाई दिया।

खाने का नाम सुनकर, चुटकी काटने के लिए, मैंने मुकेश की ओर देखा तो मैं अवाक् रह गया—उसका चेहरा सफेद पड़ गया था जैसे कि सारा खून खींच लिया गया हो!

"क्या हुआ तुम्हें, मुकेश?" मैंने घबराकर उससे पूछा।

वह कुछ उत्तर दे कि पास के जीने में कुछ हलचल सुनाई दी—मुकेश एकटक उधर ही देख रहा था, मैंने भी देखा। पहले एक लड़की उतरी, पूनम थी—कृष्णानन्द की बहन, मैं जानता था उसे। उसके पीछे फिर कोई और भी उतरा! उसने मुकेश की ओर देखा और मुकेश ने उसकी ओर—एक चीख-सी उसके मुँह से निकली और वह बेहोश होकर गिर पड़ी! मुकेश के मुँह से भी अस्पष्ट-सा कुछ निकला और भावावेश में वह खड़ा हो गया।

सारे घर में कुहराम-सा मच गया, किसी के कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था। मैंने आश्चर्य और शंका से मुकेश की ओर देखा—एक मूक प्रश्न था मेरी आँखों में, जिसे शायद मुकेश ने पढ़ लिया था। उधर, सब लोग उसे होश में लाने की कोशिश कर रहे थे—पंखा झुलाया जा रहा था, पानी छिड़का जा रहा था।

ग्रामोफोन पर रिकार्ड बज रहा था—"खुशियाँ तो मिट चुकीं, अब ग़म से वास्ता है…!"

"अरे शेखर, यह तो शबनम है दोस्त! मेरी बीबी, तेरी भाभी!" कुछ सहमी-सी आवाज़ में मुकेश ने कहा।

"क्या कहते हो, मुकेश ? अच्छी तरह सोच-समझ तो लिया यार—मुझे नहीं यक़ीन आता !" न तो मुझे अपने कानों पर विश्वास हो रहा था और न ही आँखों पर।

"यक़ीन ! अरे मेरे भाई, यक़ीन को अब बाक़ी ही क्या है ? और फिर भी अगर न आता हो तो, अपनी भाभी से जाकर ले आओ।" हो-हो कर मुकेश खिलखिला पड़ा। उसकी बेबसी और दर्द को उसकी मुसकान ने एक साथ ही पी लिया ! उधर खुशी से सब लोग चिल्ला उठे—शबनम होश में आ गई।

मुकेश को ढकेलता हुआ मैं भी वहीं पहुँच गया। मुन्ना बड़े गौर से मुकेश की ओर देख रहा था—शायद अजनबी था, किन्तु शबनम ने एक बार उसकी ओर देखा और हँसकर उसकी ग़लतफ़हमी दूर कर दी, "जाओ बेटा, उनके पास—तुम्हारे पापा हैं !" और अपनी शरमीली नज़रों को धरती पर झुका दिया।

सबने सबकी ओर देखा—आश्चर्य घटता गया, हर्ष बढ़ता गया ! मैंने मुकेश की ओर देखा, वह मुसकराया जैसे कि मेरे यक़ीन को धक्का दिया हो; और मैं उछलकर उसके गले से जा लिपटा।

ग्रामोफोन पर दूसरा रिकार्ड चढ़ गया था—"तुम दीवाली बनकर जग का तम दूर करो, मैं होली बनकर बिछुड़े हृदय मिलाऊँगा...!"

दियों में स्नेह पल रहा था, अँधेरा तिल-तिल जल रहा था और दीप-शिखाएँ, पल-पल पर सिर हिला-हिलाकर, हर्षातिरेक में झूम-झूम उठती थीं। सुबह अब होने ही वाली है और शायद मंज़िल भी आ चुकी है !

स्वप्न और सत्य

"अरे, वह देखो सामने—यही तो है साँची का स्तूप !" भोपाल और भेलसा के बीच, ट्रेन की आवाज कुछ तेज हो गई है, जिसे चीरकर ये शब्द मेरे कानों से टकराए।

मैं बड़ी उत्सुकता के साथ, टकटकी लगाए हुए, अपने सामने दूर पर, उस स्तूप को देख रहा हूँ जिसमें राजकुमार सिद्धार्थ की वैराग्य-संगिनी मनुष्यता की स्मृति, पाषाण का शीतल-श्वेत तथा सुदृढ़ कफन ओढ़े सो रही है।

मैंने अपनी ठोढ़ी, हाथ के सहारे, खिड़की की चौखट पर रख दी और फिर, थोड़ी देर बाद···मुझे ऐसा महसूस-सा होने लगा कि मैं बड़ी तेजी के साथ, सामने के उस अजीबोगरीब स्तूप की ओर बढ़ा जा रहा हूँ ! जैसे-जैसे मैं उसके समीप आता जा रहा हूँ, वैसे-ही-वैसे, उसके भीतर से आती हुई मंत्रोच्चार की ध्वनि तेज होती जा रही है। कई कण्ठों का सामूहिक तुमुल नाद, आकाश छू रहा है :

बुद्धं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि,
धम्मं शरणं गच्छामि !

किन्तु, जब मैं स्तूप के पास पहुँचा—मुझे घोर आश्चर्य की अनुभूति हुई ! क्षणभर पूर्व के मेरे अभ्यस्त कानों ने, उस कर्णप्रिय ध्वनि

को पुनः-पुनः सुनना चाहा; किन्तु, वहाँ ध्वनि के नाम पर केवल मेरी स्वयं की श्वासों की प्रतिध्वनि अवश्य उठ-गिर रही है।

मैं कुछ भयभीत-सा, स्तूप की दक्षिण दीवार से सटकर बैठ गया और मैंने देखा—

अन्धकार की स्याही को चुनौती-सी देता हुआ, प्रकाश का क्षीण-मलीन प्रहरी—एक दिया–टिमटिमा रहा है, जिसके धूमिल प्रकाश में मुझे महसूस-सा हुआ कि भगवान अमिताभ की मौन प्रतिमा मुसकरा रही है! उनका उठा हुआ एक हाथ, विश्व को दया, क्षमा तथा शान्ति का अमर सन्देश दे रहा है।

मूर्त्ति सर्वथा शान्त है। अपनी मुसकान का कारण तो वह स्वयं ही जाने! फिर भी सम्भव है कि जब भक्तगण उसके निर्जीव सौन्दर्य पर ही मंत्रमुग्ध हो उठते हैं तथा उस निष्प्राण में भी प्राण-प्रतिष्ठा की कल्पना-सी करते हैं—तब क्या यह सम्भव नहीं कि विदेह बुद्ध स्वयं पाषाण-पोश होकर, सृष्टि की महान् कला-कृतियों के सजीव सौन्दर्य पर मुसकरा उठे हों?

बरसात की ढलती जवानी के दिन हैं, बरसाती फुहार ही आँखों में और अवशेष है। रजनी भी अपनी आयु के अन्तिम प्रहर में लड़खड़ाती-सी क्षण-क्षण पर ढलती ही जा रही है! कदाचित् वह प्रभात के स्नेह-आलिंगन की मदहोश खुमारी में है—किन्तु, नहीं जानती कि मृत्यु के समीप, इस प्रणय-व्यापार का अन्त क्या होगा? मिलन, किन्तु, अन्त—बिछोह अन्ततः दोनों ही स्थितियों में अवश्यंभावी है। रात, प्रभात में, अपना अस्तित्व खो देगी, आत्म-समर्पण कर बैठेगी—प्यार की ऊँचाई का जो 'एवरेस्ट-शिखर' है।

—मिलन की बेला, किन्तु, अभी दूर है। निशा के आराध्य, भगवान

अंशुमाली का स्वर्ण-किरण-जाल से बुना हुआ रथ—दृष्टि की पहुँच से परे, कोसों-कोसों है।

···और तभी मैंने देखा, छत के एक कोने में—एक छिपकली छिपी, चौकन्नी अपने शिकार की खोज में बैठी है। कदाचित् किसी के भाग्य-विधायक-सी, शायद किसी की जिन्दगी और मौत का फैसला करने के लिए!

"दुनियाँ एक मिली-जुली बस्ती है, जहाँ निर्बल हैं और सबल भी! शिकार हमेशा होता रहा है और शिकारी भी बने रहेंगे, पर यह नहीं भूल जाना चाहिए कि सेर पर सवा-सेर भी होता है। वैसे तो दुनियाँ की रेलगाड़ी ही दो पटरियों पर हमेशा चली है, चलती जा रही है—वही चाल बेढंगी···एक शिकार और दूसरा शिकारी! शासक और शोषित का रिश्ता, कोई नया नहीं है। यह तो हर गुज़र जाने वाले ज़माने का सड़ा-गला दस्तूर, महज़ यादगाश्त के तौर पर—दुहराने के लिए, दुनियाँ वालों के दिलों में बाकी रह जाता है! किन्तु, क्या उस 'बाकी' में—ज़माने की हैवानियत के खिलाफ बग़ावत की आवाज़ भी है?" मन ही मन, सोचा मैंने।

उसी समय एक बड़ा-सा-पतंगा, किस्मत का मारा—वहाँ टकराया आकर, शायद अपनी मौत से! छिपकली ने सतर्क होकर देखा—"जिसकी मौत जहाँ लिखी होती है, वह वहीं खिचा चला आता है क्या?" जैसे-जैसे पतंगा गिरता, लड़खड़ाता और चक्कर खाता हुआ, कदाचित् मृत्यु के साथ फेरे लेता हुआ-सा दिये की ओर बढ़ रहा है—वैसे-ही-वैसे छिपकली दबे पाँव, पेट के बल सरकती और जीभ लपलपाती हुई पतंगे की ओर बढ़ी आ रही है—क़यामत-सी!

दीपक का प्रकाश वैसा ही है, किन्तु मूर्त्ति की मुसकान, कपूर की भाँति—क्षण-क्षण पर उड़ी-सी जा रही है।

कदाचित् छिपकली के अपरिपक्व, सीमित और विचारशून्य मस्तिष्क ने, यह नहीं सोच पाया कि चालाकी की दौड़ में---मुझसे भी बाजी मार ले जाने वाला कोई और भी हो सकता है, जो मेरी घात पर अपनी घात लगाए बैठा है, मेरे शिकार का शिकारी !

और वास्तव में, किसी और की तेज निगाहों ने भी, पतंगे की क्षीण काया का धुंधला-सा आकार—दीवार की श्वेत पृष्ठभूमि पर, चन्द्रमा की दुर्भाग्यपूर्ण कालिमा-सा-देखा। उसने अपने शिकार को ही नहीं, वरन् शिकार के दूसरे शिकारी को भी देखा और उसके खतरनाक इरादे को तौला---अपने भयानक निश्चय के मुकाबले में, पलड़े बराबर थे।

वह और कोई नहीं, वह था इस धरती का बुद्धिमत्ता एवं श्रेष्ठता का एकमेव सर्वाधिक दावेदार—मानव ! और वह भी, विज्ञान का एक विद्यार्थी, जिसे कदाचित् ऐसे निरीह जीवों से अधिक प्यार है !

—इस समय वहाँ, तीन शरीर हैं और तीन ही आत्माएँ !

पर, परवाना शायद परेशान-सा है—शमाँ पर उसके जलने में भी दुनियाँ वालों को एतराज है। जीने वालों को यह दुनियाँ जीने नहीं देना चाहती---पर मरने वालों को क्यों रोकती है, मरने से अपनी मौत ?

अपने शिकार को दोनों ही शिकारियों ने एक साथ देखा। प्रश्न अब अधिक शक्ति और चातुर्य का है—पलड़े के झुकने-झुकाने का। जीवन की हाट में बुद्धि और शक्ति—तराजू के पलड़ों पर चढ़ा दी गई हैं।

छिपकली उस तक पहुँचे-पहुँचे कि एक हाथ पतंगे की ओर बढ़ा और अब एक ही हाथ का फासला है; जिन्दगी और मौत के बीच होड़ा-होड़ी है। तभी शतरंज की इस चाल का फैसला भी हो गया—

छिपकली ने बिना कुछ आगा-पीछा सोचे, पैदली मात की हार स्वीकार कर ली और पीछे हट गई।

पलड़ा एक ओर को झुक गया। अपनी शक्ति और मस्तिष्क-बल के कारण, मनुष्य विजयी हुआ। पर, इस पर किसी ने भी शायद गौर नहीं किया कि मनुष्य की यह विजय, उसकी भीषण पराजय है। उसने स्वयं को शक्ति की कसौटी पर कसा; उसकी तह में, अमृत-मंथन के भगवान् का असीम शक्तिशाली कच्छ-रूप नहीं है—वहाँ तो नन्हा-सा पतंगा बेचारा है, जो दुबलता की परिभाषा को भी लज्जित कर रहा है। शक्ति जिसके लिए एक सुन्दर सपना है—मधुर, किन्तु, अनहोनी कल्पना।

अब, अपनी भीषण घृणा रोककर मानव-समाज सुने, यदि मानवता का कहीं शेषांश हो, कि उस नन्हे-से कैदी को कैद कहाँ किया गया? 'पोटेशियम साइनाइड' के एक पॉट में!

'अरे, वह तो खाली है—अभी मरेगा नहीं!' पतंगे की जीवन-कारा के उस जेलर ने, इन्सानियत के इजलास में अपनी सफाई पेश की, किन्तु, उसकी न-कुछ हस्ती और नरक-सा भयावह जहर का पॉट, क्या भरा और क्या खाली? जेलर की यमदूत-सी मस्ती ने उसकी हस्ती को ही मिटा दिया!

जिन्दगी और मौत—दोनों ही अब, एक सरहद पर हैं! जिन्दगी तब, मौत के काले, कठोर और कराल हाथों में अठखेलियाँ करती हुई चल पड़ी। पतंगे ने अपनी उस नन्ही, नेपोलियन की काल-कोठरी-सी जहरीली दुनियाँ में डूबते-उतराते, अन्त में, तड़फ-तड़फ कर दम तोड़ दिया! और फिर वह, एक आलोकमय संसार में जा पहुँचा। यह भरी-पूरी-सी धरा और इस हलचल भरे विश्व में, कोलाहलक्रान्त जीवन का स्पन्दन—किन्तु यह सब कितना अचिरस्थायी है, कितना क्षणिक-शेष...? आदि का अन्त भी सुनिश्चित है!

…इसी तरह पतंगा भी चला गया, पर क्या उस नन्हीं-सी जान के लिए भी किसी ने—अपने बेशकीमती आँसू ढुलकाए ? शायद नहीं ! किन्तु हाँ, शमा ज़रूर रोती-सी बुझती जा रही है जल-जलकर, परवाने की जुदाई में और वाक़ई यह जुदाई बड़ी ही दुःखदायी है—दो प्रेमी एक-दूसरे से दूर, घुट-घुटकर एक मर गया है और दूसरा मौत से अपना नज़दीक का रिश्ता जोड़ रहा है !

दुनियाँ वालों के लिए, एक जलती मिसाल है—जलाना ही नहीं, जलना भी सीखो, तिल-तिल !

और, साँची के उस भव्य स्तूप में प्राण-प्रतिष्ठित भगवान तथागत की स्तब्ध-मूर्त्ति…? अब केवल कुछ विकृत रेखाएँ ही उस धुंधले प्रकाश में चमक-सी उठती हैं, मूरत की सूरत पर नर्तन-क्रन्दन करतीं ! दीपक के प्रकाश को अन्धकार पिए ले रहा है—स्नेह के अभाव में !

"दुनियाँ आज एक जीता-जागता अजायबघर है"—मैंने सोचा—"जहाँ का अस्थि-माँस-आवृत किन्तु पाषाण-हृदय इन्सान कितना बेरहम है ? मेरी कल्पना में इन्सान आज भी जिन्दा है—पर इन्सानियत जैसे मर चुकी है !" इन्सान की यह जीत, उसकी सबसे बड़ी हार थी—किन्तु उसने उसे माना नहीं, शायद सोचा भी नहीं। जो कुछ वह पॉट में बन्द कर सका, वह तो मात्र माटी है—जबकि स्वयं उसकी काया, माटी की छाया है। काया की इस छाया का अस्तित्व ही क्या है ? मिट गई तो मिट्टी, मिट्टी में मिल गई और आत्मा परमात्मा में आत्मीभूत हो गई ! वह तो अजय-अमर है, उसे किसने और कब, कहाँ बन्दी बना पाया ? दीपक बुझ गया, नश्वर देह नष्ट हो गई; किन्तु अविनश्वर आत्मा की चिरन्तन लौ, अभी जल रही है और उस दिव्य प्रकाश में—

वहाँ अब भी तीन शरीर हैं—पर तीन आत्माएँ नहीं !

…दीपक के ज्योतिहीन होते ही, मैं भयभीत-सा अपनी जगह से हड़बड़ा कर उठा। स्तूप के चारों ओर छाया हुआ घोर अन्धकार काले नाग की तरह फन फैलाए—फुफकार-सी मारने लगा! आँधी तूफान की तरह चलने लगी और फिर, मूसलधार वर्षा! शत-शत बौद्ध-भिक्षु मानो एक स्वर से—मन्त्रोच्चार करने लगे…कि इतने में साँची का वह विशालकाय स्तूप जैसे एक भीषण गर्जना के साथ पृथ्वी पर भहरा पड़ा!

—और तब, मुझे ऐसा लगा जैसे किसी ने मेरे सिर पर आघात किया हो…एकदम मैंने आँखें खोल दीं। देखा, तो भोपाल आ चुका है। स्टेशन पर गाड़ी रुकने के कारण, झटका लगने से मेरा सिर खिड़की की चौखट से टकरा गया था। मैंने आश्चर्य से, अपने चारों ओर देखा—न कहीं स्तूप है, न प्रतिमा, न वह मनुष्य, न छिपकली ही है और न पतंगा! क्या वे सब भावनाओं के प्रतीक-मात्र थे? क्या वह मात्र मेरी कल्पना थी? क्या वह केवल स्वप्न था?

महाराष्ट्र की एक संध्या—

सूर्य अभी पूरी तरह डूबा नहीं है, किन्तु गोधूलि का समय होने के कारण, धूलाकाश पर कुछ मटमैला-सा अवश्य हो गया है। दुर्ग की दक्षिण-प्राचीर के पास—जहाँ कँगूरों की परछाईं का अस्तित्व धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है, मृत्यु के समीप मनुष्य की उड़ती हुई कान्ति की भाँति—एक कालीन बिछा हुआ है। उसी पर एक ओर एक पुरुष बैठा हुआ है, और दूसरी ओर एक महिला।

घनी काली दाढ़ी के मध्य, उस पुरुष का उन्नत ललाट-युक्त प्रदीप्त मुख, शौर्य एवं साहस की परिभाषा को मुखर कर रहा है। मस्तक की उभरती-मिटती रेखाएँ और बड़े-बड़े नेत्र, उसके असाधारण व्यक्तित्व के दर्पण हैं और इन प्रशान्त जलधरों में सागर की अथाह जलराशि हिलोरें ले रही है, वन की सघन झाड़ियों से जैसे वनराज सिंह झाँक रहा हो।

…और, महिला के मुख-पृष्ठ पर, आयु एवं अनुभव की तूलिका से न जाने कितनी सावन की झड़ियाँ और पतझड़ की घड़ियाँ रेखांकित हैं? फिर भी, मेघाच्छन्न चक्रव्यूह को चीरकर उदित होनेवाला मध्यान्ह का सूर्य सर्वाधिक प्रखर एवं तेजोमय होता है।

दोनों के मध्य, चौपड़ बिछा हुआ है—खेल चल रहा है। एक दाँव पर पासा उलट गया।

"लो माँ, मैं फिर हार गया !" पुरुष ने उठते हुए कहा। इस पराजय में, दुःख की मरघटीय नीरवता नहीं है, वरन हर्ष की हाट का कोलाहल है।

"नहीं शिवा, यह तुम्हारी पराजय नहीं--विजय है। किन्तु फिर भी, तुम्हें एक विजित नरेश की भाँति मेरी एक माँग को स्वीकार करना होगा !" माता जीजाबाई ने विजयी के सशक्त और अधिकारपूर्ण शब्दों में कहा।

"शिरोधार्य है माँ, आज्ञा कीजिए !" शिवाजी ने जिज्ञासामिश्रित उत्साह में पूछा।

"वह देखते हो, क्या है ?" माता ने गंभीरता से पूछा। सामने के एक अत्यन्त सुदृढ़ दुर्ग की ओर उनका इंगित है।

"कोंडाना है, माँ ! किन्तु आपका अभिप्राय मैं नहीं समझा।" प्रश्न के लिए उत्तर देते हुए और उत्तर के लिए प्रश्न करते-करते शिवाजी स्वयं एक बड़ा-सा '?' बनकर रह गए।

"अभिप्राय तो स्पष्ट ही है, शिवा !" राजमाता ने मुसकराते हुए कहा—"तुमने अविजेय दुर्गों को विजित किया है, किन्तु यह अविजित दुर्ग अपना शीश उठाए हुए, तुम्हारी विजय पर अट्टहास कर रहा है; और उधर देखो—भगवान् भुवन-भास्कर भी लज्जावनत-से अपना मस्तक, अन्धकार के साम्राज्य में, छुपाने का प्रयास कर रहे हैं। कोंडाना तुम्हारे कीर्त्ति-चन्द्र में, एक काला धब्बा है, शिवा ! इस यशोचन्द्रिका की धवलता एवं पवित्रता की रक्षा के लिए इसे धोना ही होगा—मिटाना ही होगा।" ममतामयी माता का घर-प्रांगण का सुधासिक्त स्नेह इस समय मातृभूमि के, समरांगण की देवी दुर्गा के, रक्तरंजित विद्रोह में परिवर्तित हो चुका है।

…और राजमाता के वात्सल्य में सने हुए शब्द——राजनीति-सीमेंट के कठोर आज्ञा-प्रस्तर में परिणत हो गए ।

तानाजी के घर आज, उनके पुत्र के विवाहोत्सव की धूमधाम है। घर-बाहर के सभी व्यक्ति अपने-अपने कार्य में व्यस्त हैं और भीतर से बाहर, बाहर से भीतर, दौड़-भाग रहे हैं। महिला वर्ग भी, अपने उत्तरदायित्व की पहचान और कर्त्तव्यपूर्त्ति में, पुरुषों से पीछे नहीं है ।

मुख्य द्वार पर, बन्दनवारों की शोभा—मस्तक पर तिलक-सदृश—अंकित है। शहनाई का बारीक स्वर, इस हलचल और कोलाहल के वातावरण से छन-छनकर, सबके कानों में झंकृत हो रहा है ।

…कि इसी समय, तानाजी के अभ्यस्त एवं अनुभवी कानों ने घोड़े की टापों की ध्वनि का अनुमान किया ! ध्वनि इसी ओर निरन्तर बढ़ी आ रही है । छत की मुँडेर पर से तानाजी ने देखा कि दुर्ग की ओर से एक अश्वारोही धूलि उड़ाता हुआ चला आरहा है ।

"क्या शहनाई की मधुर ध्वनि, रणभेरी के गगनभेदी जयघोष में परिवर्तित हुआ चाहती है…?" तानाजी ने वीर-दर्प से, सदैव की अपनी उसी अपराजेय मुसकान में कहा । उपस्थित व्यक्तियों की आश्चर्यमिश्रित आँखें, तानाजी की ओर, एकबारगी ही उठ गईं ।

"श्रीमंत छत्रपति महाराज का संदेशवाहक अश्वारोही—द्वार पर उपस्थित है ।" द्वारपाल ने झुककर निवेदन किया ।

तानाजी तुरन्त बाहर आए । अश्वारोही ने अभिवादन कर, एक पत्र

उन्हें दिया। शिवाजी महाराज का हस्ताक्षरयुक्त पत्र है, लिखा है—

प्रिय तानाजी,

मातुश्री इसी समय तुमसे मिलने को आतुर हैं!

—शिवा

"आज्ञा ?" अश्वारोही ने पूछा।

तानाजी ने एक क्षण मौन उसकी ओर देखा और कहा—"ठहरो, मैं तुम्हारे साथ ही चल रहा हूँ।" इतना कहकर उन्होंने अस्तबल में से अपना घोड़ा लाने की आज्ञा दी और भीतर चले गए।

धोती-कुर्ता के ऊपर ही अँगरखा पहनकर और सिर पर पगड़ी रखकर, तानाजी बाहर आए। कुछ विशेष आदेश देकर वे अश्वारूढ़ हुए और दोनों घोड़े दुर्ग की ओर हवा हो गए।

"नहीं माँ, बाजी तुमसे मैं हारा हूँ। युद्ध में, मैं स्वयं ही जाऊँगा, और फिर, तानाजी के यहाँ उनके पुत्र का विवाह जो है।" शिवाजी ने माता से आग्रहपूर्वक कहा।

"हाँ, यह तो ठीक है और वैसे भी भला, ऐसा कौन-सा युद्ध हुआ है जिसमें मेरे शिवा ने सदैव आगे रहकर सैन्य-संचालन न किया हो, किन्तु तुम्हारा स्वास्थ्य निरुत्तर है। फिर मेरे लिए तो दोनों ही समान हैं—जैसा शिवा, वैसा ही…

"ताना !" पीछे से किसी ने कहा। आश्चर्य से माता-पुत्र ने घूमकर देखा कि मुसकराते हुए तानाजी खड़े हैं।

"ओह तानाजी, तुम आगए !" राजमाता ने स्नेहसिक्त शब्दों में कहा ।

"हाँ माँ, मैं आ गया, और अब जा रहा हूँ । मैंने सब कुछ सुन लिया है, इससे अधिक गौरवपूर्ण मेरे जीवन में और क्या हो सकता है ? मुझे अपने शुभाशीर्वाद का अभेद्य कवच पहना दो, माँ !" तानाजी ने राजमाता के चरणों में झुकते हुए कहा ।

"यशस्वी हो बेटा, विजय तुम्हारे चरण चूमे !" माता ने सिर और पीठ पर अपना वरदहस्त फेरते हुए कहा ।

"और हाँ, माँ ! ताना सदैव अपनी मातृभूमि के लिए ही जिया है। यदि राष्ट्र की बलि-वेदी पर वह बलिदान हो जाए तो पुत्र का विवाह आपके ही हाथों सम्पन्न होगा ।" इतना कहकर तानाजी ने अपने पितृ-कर्त्तव्य को पूरा किया ।

"हाँ, तुम निश्चिन्त रहो, तानाजी ! मुझे अपने कर्त्तव्य की स्मृति, कभी भी विस्मृत न होगी !" जीजाबाई ने अवरुद्ध कंठ से कहा, उनकी दाहिनी आँख रह-रहकर कंपित हो उठती है ।

"अच्छा, अब विदा दो, छत्रपति महाराज !" मित्रता पर शासकीय आवरण डालते हुए, तानाजी ने शिवाजी से कहा ।

"नहीं, केवल शिवा कहो, तानाजी !" उस आवरण को उलटते हुए, शिवाजी ने कहा और तानाजी के गले लग गए । अँगरखा थोड़ा भींग गया । तानाजी ने सोचा—जिस वज्र-चट्टान से टकरा-टकराकर और सिर फोड़कर मुगल सल्तनत को अपने घावों के लिए मरहम नहीं मिल रहा है, उस चट्टान के ये अश्रु-कण ! इन अश्रुओं में सागर की गहराई है । ओह ! कितना बहुमूल्य है यह पानी ?

विवाह के अग्नि-कुण्ड के स्थान पर राष्ट्र-यज्ञ के महान् अनुष्ठान की आहुति डाल दी गई। शादी की बारात रणचंडी की केसरिया-बानाधारी सेना में परिवर्तित हो गई, और मधुर शहनाई भीषण रणभेरी बन गई। तानाजी के शब्दों की दूरदर्शी यथार्थता, सार्थकता में परिणत हो गई।

अर्द्ध-रात्रि की घोर नीरव स्याही को चीरती-तैरती, मशालों की एक लकीर—तारों की बारात-सी, कोंडाना के दुर्ग की ओर—अथक एवं अविश्रांत गति से प्रतिपल आगे और आगे ही बढ़ी जा रही है। आगे-आगे तीन अश्वारोही चल रहे हैं—एक स्वयं तानाजी हैं, उनकी बायीं ओर हैं उनके भाई सूर्याजी, और दाहिनी ओर वयोवृद्ध शेलार मामा हैं, जो इस दौड़ के साथ ही जीवन की घुड़दौड़ में भी—अपने अस्सी साल के सफेद बालों के घोड़े पर—सबसे ही आगे हैं।

मातृभूमि पर हँसते-हँसते अपना जीवन होम कर देनेवाले, माँ के इन लाड़ले सपूतों के लिए राह के शूल फूल बन गए हैं। इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर, भले ही इनके नाम अंकित न हो सकें, किन्तु वह सुनहरी स्याही इन हुतात्माओं के अनमोल रक्त से ही तैयार हो सकेगी।

—और अब, कोंडाना का दुर्ग सामने ही है। इनके शौर्य से भयाक्रान्त होकर जैसे दुर्ग स्वतः ही समीप आ गया हो। थोड़ी-सी दूरी से ही, दुर्ग को चारों ओर से घेर लेने की तानाजी ने आज्ञा दी, और कुछ वीरों के साथ वे स्वयं आगे बढ़े।

दुर्ग की अत्यन्त सुदृढ़ और सीधी—आसमान से बातें करती हुई—प्राचीरों को उपेक्षा से तानाजी ने एक बार देखा। हृदयस्थ भावों से अठखेलियाँ करती हुई उनकी मुसकान ने भावनाओं को वाणी दी—"उँह, यह क्या है? चट्टान के अश्रुओं की वज्र-शक्ति को भगीरथ की भाँति अपने साथ लाया हूँ। माँ-जान्हवी की सौगन्ध! प्राचीरें काठ की

दीवारों की तरह अभी काँप उठेंगी। कोंडाना के गीदड़ों का अस्तित्व इस धरती से—हमेशा-हमेशा के लिए मिटा दूँगा।"

इस सुदृढ़ निश्चय और अमर विश्वास के साथ, तानाजी ने एक अत्यन्त सशक्त कमन्द को, सम्पूर्ण शक्ति के साथ, सामने प्राचीर पर फेंका। कमन्द जाकर उसपर स्थिर हो गया। आगे-आगे तानाजी और पीछे-पीछे योद्धाओं ने उसपर चढ़ना प्रारम्भ कर दिया; किन्तु आधे से अधिक सैनिक ऊपर नहीं चढ़ पाए होंगे कि रस्सी बीच से ही टूट पड़ी।

रस्सी टूटने और योद्धाओं के गिरने से, रात्रि की सघन नीरवता तथा शान्ति अनायास ही भंग हो गई। दुर्ग के पहरेदार सचेत हो गए, उन्होंने संकट का बिगुल बजा दिया; किन्तु, इस अप्रत्याशित आक्रमण से सबके सब भयाक्रान्त हो उठे। ऊपर-नीचे दोनों स्थानों पर युद्ध प्रारम्भ हो गया। 'हर-हर महादेव' के गगनभेदी जयघोष के साथ, तानाजी के कुशल एवं अभ्यस्त हाथों ने नर-मुंड उतारने प्रारम्भ कर दिए। उनकी तलवार उनके इंगित पर थिरक रही है। जिधर वह चमकती है, उधर ही निस्तब्धाकाश पर मरघटीय नीरवता की सघन-श्याम छाया घिर-घिर आती है।

…और तब ही, दुर्गाधिपति उदयभानु ने पीछे से तानाजी पर कायरतापूर्ण वार किया। उनका बायाँ कंधा कट गया और ढाल पृथ्वी पर जागिरी।

बिना एक क्षण का विलम्ब किए, तानाजी ने कमर का फेंटा खोलकर अपने हाथ पर लपेट लिया और उसपर ही उदयभानु के वार रोकते रहे। इतने में ही, एक करारा वार उनके दाहिने कंधे पर हुआ—तानाजी की तलवार दूर जागिरी, उनका कंधे से नीचे तक का धड़, लोहू-लुहान हो गया है। वे धराशायी होनेवाले ही हैं कि सूर्याजी ने उन्हें थाम लिया और एक ओर ले गए।

उदयभानु उधर झपटा, किन्तु शेलार मामा और कुं० जगतसिंह की तलवारें उसके मार्ग में क्रुद्ध नागिन की भाँति फुफकार उठीं। कुछ देर वहाँ घमासान युद्ध हुआ; फिर एक की तलवार से उदयभानु के दोनों पैर और दूसरे की तलवार से उसका अस्तित्व, सदैव के लिए इस धरती से मिट गया।

—और नीचे…वहाँ भी रणचंडी का रौद्र-रूप, क्षण-क्षण पर विकराल होता जा रहा है। जो गिरते हैं वे नींव के पत्थर बनते जा रहे हैं! संसार यद्यपि उन्हें नहीं देख सकेगा, किन्तु उनकी हड्डियों के ईंट-पत्थरों और रक्त-माँस के गारे-चूने से निर्मित राष्ट्र-मंदिर के पुनीत एवं वैभवशाली अतीत की महान् परम्परा का अनुमान तो कर सकेगा!

तभी, नीचेवालों ने 'हर-हर महादेव' का जयघोष सुना; ऊपर देखा कि दुर्ग के सर्वोच्च स्थल पर भगवाँ ध्वज फहर-फहर फहरा रहा है; और वायु के झोंकों में एक कर्णप्रिय स्वर-लहरी प्रस्फुटित हो रही है। शंखों की सामूहिक ध्वनि विजय का उद्घोष कर रही है।

प्राची में उषा की लाली गुलाल-सी बिखर गई है। निशा ने जैसे विदा की वेला में, अपनी सहेली उषा से होली की ठठोली की हो, सिन्दूर की रक्तिम होली! इधर, दुर्ग की छतें और प्राचीरें भी रक्त-रंजित हैं; किन्तु इस लालिमा में और उसमें अन्तर है—उतना ही, जितना जीवन और मृत्यु में, निर्माण तथा विध्वंस में।

माँस के लोथड़ों के सहारे लेटे हुए, तानाजी ने मुसकराते हुए कहा, "हमारी होली का रंग देखकर, भगवान भुवन-भास्कर ने भी हमारी इस महान् विजय पर हर्षोन्मत्त गुलाल उड़ानी प्रारम्भ करदी है! छत्रपति के चट्टानी अश्रु-कणों ने आज कोंडाना की कलंक-कालिमा को पोंछ दिया है! …जीवन-दीप…अब बुझना ही चाहता है…और…और ऐसे असंख्य दीपों के……बु…झ…ने के पश्चात् ही राष्ट्र-दीप की अमर-ज्योति

प्रखर हो पाती है…विदा…जननी जन्म-भूमिश्च…स्वर्गादपि गरीयसी–
जय मातृभूमि !"

उधर क्षितिज पर प्रकाश ने अपने नेत्र खोले और इधर तानाजी ने अपने नेत्र सदैव के लिए बन्द कर लिए ! एक सूर्य उदय हुआ और दूसरा अस्त हो गया !

"गढ़ आला, परण सिंह गेला !" छत्रपति शिवाजी ने चीखकर कहा–गढ़ तो हाथ लग गया, किन्तु हाय, सिंह चला गया !" अँगरखा फिर एक बार भींग गया ।

एक के रक्त ने और दूसरे के अश्रुओं ने मिलकर, भारतीय इतिहास के कलंक को धो दिया ।

जीवन-समाधियाँ

कहनेवाला कहे जा रहा था—"जुलूस आगे और आगे ही बढ़ता गया। उसके गगनभेदी नारों से आकाश, हवा में, नीली चादर की तरह काँप-काँप उठता था। जुलूस की उड़ती हुई धूल से आकाश-मार्ग आच्छादित हो रहा था, जैसे कोई विश्व-विजयिनी सेना मंजिल की धुन में जयघोष करती, अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ी जा रही हो। शहर की प्रमुख जन-रवपूर्ण सड़कों को पार करता हुआ जुलूस निरन्तर बढ़ता ही गया और अपनी मंजिल के चिराग को सामने देख, दुगुने वेग और चौगुने उत्साह से उस ओर लपका। वह प्रशांत सागर के भयावह ज्वार के सदृश था, जो अपनी शान्ति को भंग होता देख—अपने जन्मसिद्ध अधिकारों का अपहरण देखकर—विप्लवी हो उठता है। जुलूस दरिया के तूफान की भाँति उमड़ता-घुमड़ता ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अपने तीसरे नेत्र को खोलकर समस्त विश्व को क्षणमात्र में भस्मीभूत कर देने की प्रबल क्षमता रखने-वाले भगवान रुद्र, स्वयं ही रौद्र रूप में··· !"

सुननेवाले ने बात काट दी—"पर तुमने यह तो बताया ही नहीं कि वे आखिर थे कौन ?"

उसने आगे कहा—"वे थे देश के सपूत, राष्ट्र के बलिदानी वीर, जो अपने हकों की माँग को बुलन्द करते, शान्ति-प्रस्ताव लेजाते हुए साक्षात् शान्ति-दूत थे ! भगवान गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी के सत्य एवं अहिंसा के वाहक ! भारतमाता की कर्मभूमि के सच्चे कर्मवीर !

—और अब मंज़िल सामने थी, किन्तु प्रवेश-द्वार के भीतर प्रविष्ट होने से उन्हें रोक दिया गया। फिर भी जुलूस बढ़ता ही गया—वह नहीं रुका, उसे कोई रोक न सका, क्योंकि वह सत्य और न्याय की पृष्ठभूमि पर आधारित, अविचलित था। जब नहीं रुका, रुक न सका, तब लाठीचार्ज किया गया···परन्तु विरोधियों ने साश्चर्य देखा कि वहाँ तो सीनों की फौलादी दीवार, दधीचि के वज्र-ढाँचे-सी खड़ी है—जो नहीं गिरी, गिर न सकी। तब नियम के सरासर विरुद्ध सिर आदि मर्म-स्थानों पर बेशुमार लाठियों की वर्षा की गई–पर, पाशविकता की चरम सीमा का अतिक्रमण तो वहाँ कर दिया गया जब उन नर-पिशाचों ने गिरे हुओं को भी लाठियों से कुचला और बूटों की ठोकरें दीं!"

सुननेवाला काँप उठा। उसके मुँह से अनायास ही एक चीख निकल गई–'उफ!'

कहानी आगे चलती है—"और फिर भी, वह फौलादी दीवार निरन्तर आगे और आगे ही बढ़ती गई, जो नहीं हिली, हिल भी न सकी। तब 'फायरिंग' का ऑर्डर दिया गया! गोलियों की एक बाढ़ आई और उसने दीवार की एक 'ईंट' को चकनाचूर कर दिया, चिर-निद्रा में सुला दिया उसे! साथ में, कई और 'ईंटें' भी गिरीं। देखते ही देखते, एक प्रचंड बाढ़ और आई जिसने एक और को भी अमर-शान्ति की गोद में चिर-विश्रांति लेने के लिए–मृत्यु का शीतल-स्याह आवरण ओढ़ा दिया! गोलियों की बौछारें आईं और आती ही गईं। यहाँ तक कि वहाँ का प्रशस्त राज-मार्ग—उन मासूमों के रक्त से रक्त-रंजित हो उठा! गोलियों से छितराए हुए चट्टान के टुकड़े, अपनी मूक भाषा में चीख रहे थे और माँस के कतरे—अपने गम की कहानी अपनी जुबानी सुना रहे थे···!"

सुननेवाला कराह उठा, उसके शब्द टूटते-फूटते सिसकियों के सहारे मुश्किल से बाहर आए—"और···फि···र···?"

श्वासें-प्रश्वासें भी वातावरण की गंभीरता में तैरती-उतरती डूब गईं। और उधर, सुदूर पश्चिम-क्षितिज पर, जहाँ धरती आकाश को पुकारती है—सूरज तेजी से डूब रहा था, कदाचित् लज्जित-रक्तिम-सा वह मानव की दानवता देख, मुँह छिपाने का प्रयास कर रहा था !

—फिर क्या ? मृत्यु का घोर सन्नाटा और उस नीरव में निहित, मूक-हाहाकार !

उपर्युक्त वार्त्ता, ताल में लगी हुई एकान्त-तपस्विनी 'कमल की एक कली' और उसके परिचित 'भँवरे' में हो रही थी, जो पर्यटन करता हुआ—वायु के रथ पर—घटना-स्थल से आकर अपने साथी को वस्तुस्थिति से अवगत करा रहा था। साथ ही, कली पर भँवरे के इस कथन की भयंकर प्रतिक्रिया हुई। भँवरा देख रहा था कि कली प्रति पल स्पन्दनहीन-सी, मुरझाती ही जा रही है। उसने सांत्वना देने का विफल प्रयास किया, सहानुभूति पाकर संयम का बाँध एकबारगी भहरा ही पड़ा और सावन-भादों नयनाकाश पर उमड़ आये ! कली का अंग-प्रत्यंग विह्वल था, पुरवइया भरी-पूरी जवानी में थी, किन्तु कोहरे का धुन्ध अपनी जिद पर था—आँखें बरसीं और जी खोलकर आँखों की बरसात हुई।

कमल की कली ने सिसकियाँ पीते हुए कहा—"मेरा हृदय रह-रहकर अन्तर्नाद कर उठता है कि उन निहत्थे और मासूमों ने अपराध ही कौन-सा किया था ? अपनी अधिकार-रक्षा और उसके लिए आवाज उठाना तो मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म और उसका गुरुतर कर्त्तव्य है। उनमें एक-एक बुद्ध, तिलक और गाँधी था, जिनकी आत्मा की अविनश्वर ध्वनि उनमें प्रतिध्वनित हो रही थी ! उन्होंने सत्य के लिए हाथ बढ़ाया तो उन्हें मिला असत्य—लाठी ! गोलियाँ ! और...और...!'

कली की हिचकी बँध गई थी, अश्रु-सरिता के प्रचण्ड वेग को उसने बरबस रोका, पर दबाव पड़ने से बाँध चरचरा उठा ! काँपती-सी, कली ने कहा—"अब मैं जीवित नहीं रहना चाहती, जी भी नहीं सकती। रीती रात-सा जीवन जीकर क्या करूँगी ?"

"अन्धकार का झीना परदा, पृथ्वी-तल पर गिर रहा है—भोर होने दो...!" भँवरे ने सहमी-सी आवाज में कहा।

"नहीं भँवरे !" कली ने उसे रोकते हुए कहा—"कौन जानता है कि इस दुर्भाग्यपूर्ण रात्रि के पश्चात् अँधेरे का परदाफाश कर मेरे लिए नई सुबह होगी भी ! मुझे कह लेने दो, पर हाँ, यह तो बताओ भला, मेरा एक कहा कर सकोगे क्या ?"

कहने के साथ ही कली उद्विग्न-सी हो उठी—उसका निश्चय, उसका विश्वास हिल गया क्या ? नहीं, कभी नहीं—भँवरे ने निगाह फेंकी, पल-भर रुका। कली के कथन की अथाह गहराई को, उसने अपनी नजरों से नापने की कोशिश की और, साथ ही, वह तड़फ उठा ! उसकी तड़फन खुद-ब-खुद कराह उठी, उसने पीड़ा में कहा—"दुनियाँ शायद नहीं जानती कि दिनभर के भटके, सुबह के रास्ता भूले मुसाफिर, मुझ बदकिस्मत, गुमराह को तुम पनाह देती हो। अपने सुकोमल आँचल के शीतल आश्रय में रात को तुम मुझे अपने में समेट लेती हो ! विश्व अनभिज्ञ नहीं, इस तथ्य से कि मैं तुझे कितना प्यार...!"

"पर, विश्व इस कटु सत्य से परे भी तो नहीं जा सकता कि प्यार से कर्त्तव्य ऊँचा है, फर्ज से मुहब्बत परे !" कली ने पूर्ण निश्चय के विश्वास में कहा—"और हाँ, तुम किंकर्त्तव्यविमूढ़ न बन कर—

मुझे तोड़ लेना वनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक—

मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक !

···बस !"

और भँवरा तब भली-भाँति सम्हल चुका था—कदाचित् कर्त्तव्य ने प्यार पर विजय प्राप्त करली थी, शायद फर्ज की आवाज ने मुहब्बत को पँदली मात देदी थी !

समीप ही, 'माँडरे की माता' की ओर कोई गाता हुआ चला जा रहा था—'साँझ की बेला, पंछी अकेला ! जीवन में दुख-रैन अँधेरी···!'

कॉलेज की टॉवर-क्लॉक का पेण्डुलम अपनी निश्चित गति से हिल रहा था। तब, घोड़ा-कोतवाली के घड़ियाल ने मध्यरात्रि के उस मृत्यु-शून्य को तोड़ते हुए, बारह के घण्टे खड़खड़ाए।

भँवरे ने सारी रात, अपनी अलविदा लेती प्रेयसि के पास बैठे-बैठे गुजार दी—और वह रात, उसे पहाड़-सी गुजरी। कदाचित् वह रात्रि उसके जीवन के कटुतम अनुभव की रात थी—भँवरा समझ रहा था, कि वे जीवन के उस मोड़ पर पहुँच चुके हैं कि कोई किधर चला जाएगा, चल निकलेगा एकाकी कोई किधर···कहाँ ?

तब ही, मस्तिष्क में अतीत-भविष्य की बनती-मिटती रेखाएँ—भगवान् भुवन-भास्कर की बिखरती किरणों से जा मिलीं। इतने में ही, भँवरे को दूर, कहीं बहुत दूर से आती हुई, सामूहिक गान की ध्वनि सुनाई दी। उसने कान देकर सुना, ध्वनि स्पष्ट, निकट ही आती जा रही थी—

"···प्राणों पर इतनी ममता, 'औ' स्वतंत्रता का सौदा ?

बिना तेल के दीप जलाने, का है कठिन मसौदा !

आँसू बिखराते बीतेंगी, जलती जीवन-घड़ियाँ।
शीश चढ़ाए बिना नहीं, टूटेंगी माँ की कड़ियाँ।

दुनियाँ में जीने का, सबसे सुन्दर-मधुर तकाजा—
हो शहीद, उठने दे अपना, फूलों-भरा जनाजा!"

जुलूस नज़दीक ही था, अमर शहीदों की अर्थियों के साथ बढ़ता हुआ। भँवरा तब कमल की कली को लेकर उड़ चला—उसने कई बार उस विशाल जुलूस की परिक्रमा की और फिर आगे जाकर थोड़ा-सा नीचे उतरकर समर्पित कर दिया उसने, उसे! जुलूस कटोरा ताल के किनारे-किनारे आगे बढ़ गया और वह भूमि तीर्थ बन गई, भँवरे ने देखा उसकी प्राणाधार-कली कुचलकर धूलि-धूसरित होते हुए भी, अपूर्व आभा से दैदीप्यमान हो उठी थी! उसने लपककर उठा लिया उसे और उड़ गया, कहीं···किसी ओर।

तीन वर्ष पश्चात्—

अमर शहीदों की जीवन-समाधियाँ बन चुकी थीं। बरसात की एक अँधेरी रात, विद्युत् की तड़फन में यह कौन—उनपर मँडरा रहा है, आइए, समीप से देखें तो है क्या? बिजली फिर कौंधी—अरे, यह तो कोई उन्मुक्त-प्रेमी भँवरा है, कुछ गुनगुना भी रहा है। देखें, इस तूफान-बर्फानी रात में वह इस निर्जन-सुनसान-वीरान में क्यों कर आया?

परिक्रमा के पश्चात्, धीरे-धीरे वह नीचे उतरा और श्रद्धा से नतमस्तक हो उसने अपनी अंतिम पूँजी शायद, एक सूखी कमल की कली को—समाधि की भेंट कर दिया और तब ही, घड़ी के पेण्डुलम ने अबाधि गति से चोट करते हुए समय की सूचना दी, निशा-प्रहरी ने मध्य-

रात्रि की घोषणा की ! भँवरा चौंका और अन्धकार के उस घोर नीरव को चीरता, अनन्त शून्य में विलीन होगया वह। रह गया, उसका गुन-गुन शब्द ही, मृत्यु के उस मातमी सन्नाटे को तोड़ता, अवशेष···जिसका हमें यही आभास मिलता है––

शहीदों की चिताओं पर, जुड़ेंगे हर बरस मेले !

वतन पे मरनेवालों का, यही बाकी निशाँ होगा !

फुटपाथ और पगडण्डी

" मनोज !···कहाँ हो···तुम, चले गए क्या ?" कराहते हुए, कुछ मुश्किल के साथ—भुवन ने टूटते-फूटते शब्दों में कहा ।

"यह क्या कह रहे हो, भुवन ? मैं तुम्हारे नजदीक ही तो बैठा हूँ भाई !" मनोज ने उसे स्पर्श करते हुए घबराई-सी आवाज में कहा ।

"भैया, मुझे थोड़ा पानी पिला दो···और सुनो—पहले मुझे सहारा देकर तकिये के सहारे बैठा दो ।" मनोज ने उसके सिर के नीचे हाथ लगाकर, धीरे-से उसे उठाकर, तकिये के सहारे बैठा दिया ।

"अरे यह क्या — यह पानी कैसा भाई ?" भुवन ने बैठते हुए पूछा ।

"कुछ नहीं···कुछ भी तो नहीं, भुवन ! यह तो—दवा की शीशी··· टूट गई ।" आँसू पीता हुआ मनोज, इतना ही कह पाया—गला भर आया था । भुवन पर उसकी कमजोरी का भेद न खुल जाए, यह सोच-कर, वह वहाँ से हट गया ।

किन्तु, मनोज से छिपा न था कि भुवन की दुर्बलता, अपनी आखिरी हद तक पहुँच चुकी है और साथ ही वह अपनी दृष्टि खो बैठा है··· पानी का गिलास भरते-भरते एक अज्ञात किन्तु अदृश्य भयानक आशंका से उसका कलेजा एकबारगी ही काँप गया, हाथ हिले और गिलास गिरते-गिरते बचा !

"यह लो भुवन, पानी।" गिलास भुवन के मुँह से लगाते हुए, मनोज ने कहा। लेकिन पानी के अन्दर पहुँचते न पहुँचते...भुवन ने जोर से खाँसते हुए खून की क़ै की। मनोज ने उसे थाम लिया, नहीं तो वह गिर जाता।

"मनोज, मुझे पकड़कर अपने सहारे बैठाल लो। मेरा दिल घबरा रहा है...चक्कर-से आ रहे हैं, जैसे बस, विदा की वेला आ गई हो!" उसकी संज्ञा क्षण-क्षण पर, शून्य की ओर, तेजी से बढ़ रही थी। मनोज देख रहा था—शायद इस सृष्टि का, इन 'चलती-फिरती कठपुतलियों' को नचानेवाला सृष्टा भी देख रहा होगा; किन्तु वह भी मजबूर है...उस वैज्ञानिक की तरह जिसने 'उपग्रह' का आविष्कार तो किया है, उसे चन्द्रलोक की ओर छोड़ भी दिया है...पर, उसे सही-सलामत लौटाने में असमर्थ है।

कुछ शान्त होने पर, भुवन ने फिर पानी मांगा। पानी देकर मनोज ने चिन्तित स्वर में पूछा, "अब कैसा जी है, भाई?"

"अब तो कुछ ठीक है। तुम चिन्ता न करो, मनोज!" भुवन ने काँपती-सी आवाज में कहा। किन्तु, यह स्वयं के लिए एक धोखा था और या फिर, मनोज को दिलासा देने का सामान...?

"मनोज, भैया, तुम जरा मेरे सन्दूक में से मखमल में लिपटी हुई मेरी पुस्तक लादो!" एक साँस में ही भुवन कह गया और बोलकर ऐसे चुप हो गया कि फिर कभी बोलेगा ही नहीं।

"क्या है भुवन, उसमें?" मनोज ने उठते हुए पूछा; किन्तु भुवन के मौन-शान्त मुख ने—उत्तर देने से मना-सा कर दिया! पानी का गिलास अभी भी उसके हाथ में था और वह बूँद-बूँद पी-सा रहा था।

मनोज लपककर दूसरे कमरे में गया, झट-से उसने सन्दूक में रखी मखमल को उठाया···कि इतने में ही उसे भुवन के कमरे से कुछ गिरने की आवाज़ सुनाई दी ! सन्दूक खुला छोड़कर वह उसके कमरे की ओर लपका; किन्तु, तब तक सब कुछ समाप्त हो चुका था ! उसने फटी-फटी फैली आँखों से देखा—गिलास भुवन के हाथों से गिरकर चूर-चूर हो गया था और उसका सिर एक ओर लटक गया था ।

उसने चाहा कि उसके सिर को ठीक करदे; किन्तु उसपर झुकते ही उसे चक्कर-सा आया और वह वहीं कटे पेड़ की तरह गिरकर, बेहोश हो गया ।

—और मखमल उसके स्थिर श्वेत मुखपर पड़ी थी ताकि उसकी बेबसी, उसके आँसू, ज़माने की नज़रों से छिप जाएँ, दुनियाँ के भरे बाज़ार में उनकी नुमाइश न सजे ! किन्तु, उसमें रखे हुए काग़ज़—इस खुली अदालत में चीख़-चीख़कर अपनी तक़रीर पेश करने के लिए इधर-उधर उसके शरीर के आस-पास और नीचे बिखर गए थे··· ।

मनोज को जब होश आया तो उसने भुवन को सीधा करके, उन काग़ज़ों को इकट्ठा किया । आँखें उसकी भरी-भरी थीं । उसने देखा कि वह एक पाण्डुलिपि थी और था उसके आगे—आँसुओं का लहराता सागर जिसमें शायद पाण्डुलिपि की स्याही घुल गई थी और उस स्याह-अथाह में थाह पाने के लिए वह डूबने-उतराने लगा···

—यह मेरे जीवन की संचित पूँजी है, इसमें मैं हूँ ! मैं धरती से उठ भी जाऊँगा यदि, तो इन पन्नों में रह जाऊँगा ! इसमें मेरी आत्मा की आवाज़ हमेशा प्रतिध्वनित हुआ करेगी । इन्हें काग़ज़ के मामूली

टुकड़े न समझना, यह मेरे हृदय के टूक-टूक हैं–मेरी गीता, रामायण, कुरान, इंजील, सब-कुछ यही हैं—और इसी मंदिर, मसजिद, गिरजाघर में मैं पाषाण की नहीं, सजीव प्रतिमा की आराधना किया करता हूँ।

मैं शहर के साफ-सुथरे फुटपाथ पर चलने का आदी हूँ और जाने-अनजाने ही मेरा यह विश्वास जम गया है कि गाँव की पगडण्डी पर चलते-चलते–अनायास ही पैर में काँटे चुभ जाया करते हैं। और शहर के चिकने, बनावटी फुटपाथ पर केले के छिलके या अन्य किसी कारण से पैर फिसल सकता है, यह शायद जानते हुए भी मैं याद न रख सका। पगडण्डी का काँटा तो निकल सकता है, दो-एक दिन में उसकी चुभन भी उसी की तरह दूर हो जाती है; पर, हो सकता है कि फुटपाथ पर फिसलने के बाद, गिरकर फिर उठना हमेशा के लिए नामुमकिन हो जाए··· ?

···चार दिन पहले ही तो मैं शंकरपुरवा गया था––वही नदी किनारे की सुहानी शाम थी, हिलोरें लेती लहरें थीं; किन्तु सूनी-सूनी आँखों से मैंने देखा—इन लहरों में नाव न थी, जैसे चूड़ियों के बिना विधवा के खाली-खाली हाथ हों···और न, उस पार पहुँचाने के लिए कोई··· जैसे कि माँग भी सूनी हो।

––और तभी उस कंकाल की धूमिल स्मृति सजग हो गई जो वहीं, नदी के पश्चिमी किनारे पर, एक खँडहर में रहा करता था। गाँववालों के शब्दों में उसके एक-दो नहीं अनेक नामकरण-संस्कार हो चुके थे–––उस खँडहर को लोग भुतहा कहते थे और उसे, कोई पागल कहता, कोई भूत और कोई चुड़ैल! जो कुछ हो, आज दिन किसी को परेशान करते उसे नहीं देखा गया था।

पहली बार, जब मैं गाँव आया था, तब उससे मुलाकात हुई थी और

उसने मेरी काफी सहायता की थी···मुझे याद आया और मैं उस ओर बढ़ा। दूर से ही, उसने मुझे देखकर अट्टहास किया– शायद उसने मुझे पहचान लिया था! उसकी वह हँसी, नदी के निस्तब्ध प्रदेश में गूँजकर चारों ओर फैल गई।

वह आगे बढ़ा और बिना कुछ बोले ही उसने मुझे अपने पीछे आने का इशारा किया।

"कंचन से मिलने आये हो शायद ?" एक व्यंग्यमिश्रित-सी कर्कश आवाज मेरे कानों में पड़ी।

"हाँ···और क्या ?" मैंने एकदम कहा और मेरी बात पूरी होते न होते, फिर वही भयानक हँसी! आश्चर्य से मैंने उसकी ओर देखा और मेरे मस्तिष्क ने मुझे यह जानने के लिए मजबूर किया कि क्या वास्तव में, वह पूर्णरूपेण पागल है? एक अज्ञात कँपकँपी ने मेरा रोम-रोम हिला दिया।

रात की काली स्याही–संसार के रफ कागज पर फैल गई थी! तट पर पहुँचकर उसने मुझसे पूछा–"याद है, इसी घाट पर मैं तुम्हें एक बार और ला चुका हूँ ?" उसने पूछा। 'हाँ' में मैंने सिर हिलाया।

"लेकिन अफसोस! अब तुम्हें पार पहुँचानेवाला ही नहीं है, तुम्हारा वहाँ जाना बेकार है! कंचन मर चुकी है···!" वह अपनी पुरानी हँसी हँसा— नदी काँपकर चीख-सी उठी, लहरें दौड़ने-भागने लगीं।

मैं खड़ा न रह सका, आँखों के आगे अँधेरा था—मन-मंदिर का दीपक भी जिन्दगी के इस आँधी-तूफान में बुझ गया! किनारे पर ही मैं बैठ गया; बैठा नहीं गिर गया!

उसने खड़े ही खड़े कहा, "तुम्हारे जाने के बाद, कंचन महीनों के पखवारे, पखवारों के दिन और दिन के प्रहर गिनती रही। दिन का उजाला और रात का अँधेरा, उसने नहीं जाना कि कैसा होता है। दोनों ही, उसकी आँखों की गहराई में समा गए थे ! पर, हुआ वही जो होता आया है ! फिर जब निराशा, आशा की सौत बनकर आ ही गई; तब एक दिन···

ठीक आधी रात के वक्त, नदी में भयानक तूफान आया···पानी उफनकर, ऊपर गाँव तक चढ़ आया। गाँववालों की आँखें खुल गईं। सबने देखा—मैं भी खँडहर पर खड़ा था—धार की ओर से हृदय हिला देनेवाली एक आवाज के साथ···चारों ओर रोशनी-सी कौंध गई। पानी लौट गया था, नदी की प्यास बुझ चुकी थी !

जमींदार के यहाँ तहलका मचा– कंचन घर में नहीं थी ! सब लोग घाट की ओर चले, सारा गाँव चला–आँसुओं में नहाया हुआ। सबेरा होते न होते, कंचन की कंचन-काया, जो अब माटी हो चुकी थी, नाव के साथ हिलती-डुलती दिखाई दी। नाव टूक-टूक हो गई थी और उसकी छाया—? एक क्षणिक छाया थी जो मिट चुकी थी, एक क्षीण सपना था जो टूट चुका था, और···।

"तुमने आने में देर की, बाबू !" वह मेरी ओर देख रहा था।

"···और उसने, जाने में जल्दी··· !" मैं इतना ही कह सका। मेरी रीती आँखें भर आईं थीं, गला सूख गया था।

"लेकिन बाबू, मैं तुम्हें दिखा तो नहीं सकता—हाँ, उसकी आवाज जरूर···"

"आवाज ? कहाँ…किधर… ?" भावावेश में मैं चीख पड़ा; किन्तु फिर, मैं अपने होश में आ गया और उसके पागल होने में, मुझे थोड़ा भी सन्देह न रहा ।

——और तब, मैं महसूस-सा करने लगा कि मैं अपना होश खोता जा रहा हूँ…एक अजीब किस्म की बेहोशी मुझपर हावी होती जा रही है…कोई कह रहा है, "जब आधी रात होता है तब शंकरघाट की ओर से पानी में 'छप-छप' नाव खेने की आवाज-सी आती है और रोती हुई गीत की ध्वनि !" सारा गाँव जानता है इस बात को । गाँववालों का कहना है कि कंचन की परेशान रूह है जो रात को यहाँ मँडराती है—अँधेरे की आखिरी साँस तक भटका करती है । यह एक दिन की, दो दिन की नहीं—रोजमर्रा की बात हो गई है ।

"…देखो-देखो, वह देखो उधर… !" एक चीख मेरे कानों में आई, मुझे ऐसा ही लगा ।

किसी अदृश्य-शक्ति से, मैं अनायास ही खड़ा हो गया…मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था; शंकरघाट का पानी चंचल हो उठा था और 'छप-छप' नाव खेने की आवाज आ रही थी और तभी—अन्धकार की स्याही को चीरकर—नदी की तरंगित लहरों पर थिरकती रोने की एक बारीक आवाज वहाँ के शांत स्तब्ध वातावरण को उद्विग्न-सा करती हुई मेरे कानों से आ टकराई ।

और धीरे-धीरे रुदन में से संगीत की दर्दभरी स्वर-लहरी फूट निकली: 'मेरी हसरतें घुट-घुट के मर गईं, मैं इन हसरतों का मजार हूँ !'

आवाज इसी ओर को बढ़ती आ रही थी, भावावेश में मैं—आवाज

की दिशा में—शंकरघाट की ओर लपका···किन्तु, एक कड़ा धक्का-सा मुझे लगा और गिरकर मैं बेहोश हो गया।

जिस साल मैंने बी० ए० के पूर्वार्द्ध में पदार्पण किया, उस साल, माँ ने बहुत जोर दिया कि मैं शंकरपुरवा जाकर वहाँ के जमींदार साहब की लड़की को जरूर देख आऊँ। मैंने बहुत आनाकानी की, पैर भी पटके कि कम-से-कम बी० ए० कर लूँ; किन्तु माँ की जिद के आगे हार माननी ही पड़ी और वह भी पैदली मात! तय यह हुआ कि कल ही शनिवार को, कॉलेज आवर्स के बाद, गाँव चला जाऊँ और इतवार को शाम होते न होते, वापस आ जाऊँ ताकि सोमवार को पीरियड्स अटेण्ड कर सकूँ।

आर्ट्स की कक्षा का तीसरा पीरियड अँग्रेजी का पड़ता था। सुनहरी कमानी का चश्मा चढ़ाए हुए, जरा नाजुक तबियत और बात-बात में शरमीले, ढीला सूट और ढीले-ढाले से खुद—अँगरेजी के प्रोफेसर अष्ठाना की यही हुलिया है—वे क्लास में आए, लड़के बैठे रहे—वे बैठ गए, लड़के खड़े हो गए।

"क्या बदतमीजी है?" उनकी नाराजी में भी बड़ा मजा है।

"जी, यहाँ कोई नहीं है, सर!" गंभीरता से इधर-उधर देखते हुए, सबने एक साथ कहा।

"क्या मतलब, कौन नहीं है?" गुस्से में अष्ठाना साहब ने अपना चश्मा मेज पर पटक दिया।

"यही, 'बदतमीजी' को पूछा न आपने, सर? इस नाम का तो किसी

गर्ल कॅण्डीडेट ने अभी तक एडमीशन नहीं लिया, सर !" और सारा क्लास ठठाकर हँस पड़ा।

"अच्छा, अच्छा, ठीक है ! अब आप लोग बैठ जाइए।" इतना कहकर प्रोफेसर साहब ने हाजिरी का रजिस्टर खोला।

"मि० भुवनमोहन !"

"यस सर !" यह मनोज की आवाज थी।

"मिस नीलिमा !"

"...इ...यस सर !" भुवन आ चुका था, मनोज ने कोहनी मारी और भुवन ने गला दबाकर बोल दिया।

"मे आइ कम इन सर ?" प्रोफेसर अष्टाना और लड़कों ने एक साथ सिर उठाया, दरवाजे पर थी नीलिमा !

"यस कम इन !"

"सर, मेरी अटेण्डेंस---?" नीलिमा ने कहा।

"तुम्हारी हाजिरी तो लग चुकी, 'प्लेबेक-वॉइस' के जरिए !" प्रोफेसर साहब अब खुलकर मुसकराए। सारे क्लास की हँसी गुब्बारों-सी फूट गई।

नीलिमा ने एक बार शरारती आँखों से पीछे की ओर देखा। नजरें नजरों से उलझ गई। पीछे कौन कम शरारती आँखें थीं ? नजरें उलझीं, मुसकानें दौड़ीं...नजरें फिर सुलझीं, मुसकानें भी सिमिट गई।

पीरियड समाप्त होने पर, मैं कॉलिज के बाहर लॉन में आ गया। पीछे-पीछे नीलिमा थी; और पीछे मनोज !

"तुमने मेरी हाज़िरी क्यों बोली, भुवन ?" नीलिमा ने पूछा।

"इसलिए नीली…"

"…कि भुवन नहीं था, उसकी हाज़िरी मैंने बोल दी और नीली के न होने से, भुवन ने !" मैंने और नीलिमा ने एक साथ ही, मनोज की ओर देखा। तीनों ही खिलखिला पड़े।

"अब अगला प्रोग्राम क्या है ?" मनोज ने ही पूछा और अपना प्रोग्राम बता दिया, "भाई, मैं तो 'शारदा' जाऊँगा, अच्छा पिक्चर है—राजकपूर एण्ड मीनाकुमारी, टुगेदर फॉर दी फर्स्ट टाइम। 'रीगल' में लगा है, आज से ही, तुम लोग अगर…"

"नहीं भाई, मुझे तो आज गाँव जाना है।" मैंने कहा।

"क्यों, गाँव क्यों ?" मनोज ने पूछा।

"थोड़ा काम है।" मैंने कहा। कहने के साथ ही—पहले मेरा चेहरा सफेद पड़ा, फिर कुछ पीला। क्यों ?—पता नहीं कोई समझा या नहीं ? मैंने मुँह फेर लिया।

"मुझे भी घर जल्दी पहुँचना है, मेरी मौसी आई हैं, दिल्ली से !" नीलिमा ने कहा।

"ठीक है; तीन चाहें, तीन ही राहें !" मनोज ने साइकिल पर बैठते हुए कहा।

मैं भी साइकिल पर बैठने की तैयारी में था, एक पैर मेरा जमीन पर था और दूसरा सीट के उस पार।

"नहीं मनोज, तीन रास्ते नहीं, दो !" नीलिमा की आवाज सुनकर मनोज घूमा। नीलिमा मेरी साइकिल के पीछे बैठी हुई थी और उसकी दो उँगलियाँ ऊपर उठी हुई थीं। मेरी साइकिल आगे बढ़ गई थी।

"दो नहीं, एक !" हम दोनों ने मुसकराकर देखा, मनोज की साइकिल हमारे पीछे थी।

रास्ते एक हो गए थे। रास्ते अनेक भी हो जाएँगे। मेरा हृदय बोझिल था; बाहर मुसकराहट थी, भीतर तड़फड़ाहट।

शहर के रंगीन फुटपाथों से दूर—इस समय मेरे तेज कदम सँकरी पगडण्डी पर पड़ रहे हैं। यहाँ कोलाहल नहीं, सुनसान—वीरान है। वहाँ जगमगाहट है, सोसायटी है, श्री है और यहाँ ? ...काँटे हैं, फूहड़पन है, अन्धकार है। यही तो मेरा विश्वास था न... ?

जिस समय मैं शंकरपुरवा की, सीमा-सूचक नदी के तट पर पहुँचा—सुहानी शाम धरती पर उतरती आ रही थी। ऐसी बहतरीन और खूबसूरत शाम मैं जिन्दगी में शायद पहली बार ही देख रहा था। झुटपुटा हो चला था; गोधूलि की इस बेला में, चौपायों के साथ ही पक्षीगण भी सांध्य-धूलाकाश पर कलरव-गान करते हुए, जेठ की जलती-तपती दुपहरिया और लू-धूल के तूफान से आक्रान्त अपने-अपने नष्ट-नीड़ों को लौट रहे थे !

सुदूर पश्चिम की ओर डूबते हुए भगवान भुवनभास्कर के साथ ही डूबता-उतरता-सा एक स्वर बाँसुरी पर लय बाँधकर थिरक उठा... "निशि-दिन बरसत नयन हमारे !" कोई विरही होगा या कोई असफल-प्रेमी था...मैं अन्दाज ही लगा रहा था कि नदी की लहरों पर थिरकती एक सुमधुर स्वर-लहरी मेरे कानों में झंकृत हो उठी—

"नदी किनारे, साथ हमारे—
शाम सुहानी आई ... !"

मानव जीवन की विविधता, इस विरोधाभास से मुझे आश्चर्य की तीव्रतम अनुभूति हुई ! एक ओर दुःख है, दूसरी ओर सुख; एक ओर मिलन की मधुरता, तो दूसरी ओर बिछोह की कसकन । आशा और निराशा, संयोग और वियोग--जीवन-सरिता के दो किनारे, दो अनिवार्य पहलू---समानान्तर रेखाएँ !

विषमता के इस कटु अनुभव ने जो जीवन में पहली-पहली बार ही हुआ था शायद, मुझेपहले जीभरमुसकराने के लिए बाध्य किया और फिर, सोचने के लिए ! अन्ततः मैं मुसकरा नहीं सका । मानव-जीवन ! विषमता ! ···असमर्थता ! ···और मुसकराहट ! कितना जबरदस्त मजाक था ?

मैं इसी उलझन में उलझा हुआ था कि एक नाव किनारे आ लगी । एक लड़की उसमें बैठी हुई थी । कैसी थी वह ? यह आप यदि जानना चाहते हैं तो पहले सुन्दरता की परिभाषा को काट दीजिए—फाड़ दीजिए ! यह परिभाषा तो केवल उसके पाँवों का दर्पण बन कर रह जाएगी !!

मैं इतना अवाक्, अपलक उसे निहार रहा था जैसे कि वह कोई बड़ा असाधारण-सा चुम्बक है और मैं कोई असमर्थ, छोटा-सा लोहे का टुकड़ा ।

"आपको शायद, पार उतरना है···?" मेरे कानों ने नहीं, दिल ने महसूस-सा किया कि जैसे वीणा के तारों पर गुलाब की खिली-अधखिली-सी कलियाँ झड़ पड़ी हों ।

"हाँ, पार ही तो जाना है शायद !" मैं कह गया—कुछ बेहोश, मद-होश-सा !

"शायद···?" और मेरे इस 'शायद' पर खुलकर वह मुसकराई ।

"तो फिर, बैठिए शायद··· !" वह फिर हँसी । मंत्रमुग्ध-सा मैं, नाव में बैठने के लिए बढ़ा । पानी में फिसलन थी, पैर कुछ डगमगाए । उसने हाथ थाम लिया, सहारे से मैं नाव में एक किनारे बैठ गया । अपने शरीर में मैंने एक गहरा नशा-सा महसूस किया ।

···और तब, मुझे लगा—शहर के फुटपाथ पर, पैर के नीचे कुछ आ जाने से तेजी के साथ मैं गिर रहा हूँ, गिर रहा हूँ··· ।

नाव बीच धार में चली जा रही है···मैं अपने आपमें लौट आया, मैंने उसकी ओर देखा, वह मेरी ओर देख रही थी; चोरी पकड़ी गई और उसने शरमीली नजरों को लहरों के साथ बहा दिया ।

"कहीं मँझधार में न डुबो देना ?" मैंने शरारत से कहा । वह लहरों में मुसकराई, फिर मुँह उठाया—बड़ी मुश्किल हो गई । नजरें फिर उलझ गईं ! मुसकानें बरस गईं !

"मुझे भुवनमोहन कहते हैं !" मैंने दुष्टता से कहा ।

"कांचन !" उसने शिष्टता से कहा ।

नाव किनारे आ गई, मैं कूद गया—उसकी ओर मैंने अपना हाथ बढ़ा दिया, मेरे हाथ में उसने अपना हाथ दे दिया और हम, गाँव की ओर बढ़ दिए ।

"किसके यहाँ जाएँगे, आप ?" उसने प्रश्न किया ।

"शिवशंकर बाबू, जमींदार साहब के यहाँ!" मैंने उत्तर दिया । वह चौंकी—"क्यों क्या बात है ?" मैंने साश्चर्य पूछा ।

"कुछ नहीं, जमींदार बाबू का मकान तो वह रहा सामने—अच्छा मैं चलूँ, अब !" और वह हाथ छुड़ाकर, सचमुच ही एक ओर भाग गई ! मेरी हालत ठीक उस सिपाही की तरह थी, जिसकी जरा-सी लापरवाही से उसका चोर हाथ से निकल गया हो ।

मनोज ने तब, महसूस किया कि और अधिक पढ़ना उसके लिए नामुम-किन है। आँसू ढुलक-ढुलक रहे थे, पास ही उसके भुवन की निर्जीव काया है जिसे वह और आँसुओं से नहलाना नहीं चाहता! जीवन से वह हार गया था, दुनियाँ से रूठ गया था!

मनोज ने अपनी स्मृति के पैने नाखून से, दफन-याददाश्त की कब्र को एक बार कुरेदा। किस तरह दुनियाँ चलती रही, किस तरह घटनाएँ घूमती रहीं? भुवन भी चलता रहा, इसी दुनियाँ में—इन्हीं घटनाओं में घूमता रहा तेजी से, बहुत तेजी से···एक पैर उसका, शहर के साफ-सुथरे फुटपाथ पर था, दूसरा पैर गाँव की कँटीली पगडण्डी पर! फुटपाथ के खूबसूरत बबूल ने उसे काँटे ही काँटे दिए और बदसूरत पगडण्डी के काँटों ने गुलाब! नीलिमा ने उसे साहसहीन धोखा दिया, कंचन ने साहसपूर्ण जीवन—स्वयं को उत्सर्ग कर दिया!

—और जिस भवन में, स्वार्थ तथा उत्सर्ग के सर्ग चल रहे थे, उसमें आज भुवन स्वयं ही चल दिया था! प्रत्येक जीवन अपूर्ण होता है, हर कहानी अधूरी होती है! भुवन भी अधूरा ही चला गया, उसकी कहानी अपूर्ण रह गई!

मनोज उठ खड़ा हुआ, बाहर निकल ही रहा था कि दरवाजे के पास एक लाल कागज देखकर ठिठक गया! निमंत्रण-पत्र था—नीलिमा की शादी का। फिर उसने तारीख देखी—आज ही! आज तो उसे भी अपने भुवन की शादी का इन्तजाम करना है, मन ही मन वह बड़बड़ाया ···और इस विषमता पर, इस असमर्थता पर, इस स्वार्थपरता पर उसका हृदय भीषण घृणा से भर उठा। जी भरकर उसने रोना चाहा, किन्तु रो भी नहीं सका!

नई राह

आज कोई त्यौहार है शायद ? लखनऊ की हर गली और सड़क पर हलचल है, सुबह से ही चहल-पहल का दौरदौरा है। ऐसा कोई किस्मत का मारा, नजर के दायरे में, नजर ही नहीं आ रहा है जो अपनी जिन्दगी और जिन्दगी की तमाम परेशानियों से परेशान मायूस-सा नजर आ रहा हो। प्रत्येक के हृदय में, जीवन का स्पन्दन घड़ी की आवाज-सा धड़क रहा है और धड़कन की इसी अथक, अविश्रांत एवं अशेष ध्वनि का नाम है श्वासों की हाट, यह जीवन···यह संसार !

मैं, इस समय, अमीनाबाद पार्क के पासवाले चौराहे पर खड़ा हूँ—एकदम भूला-भटका-सा, निरुद्देश्य, निरर्थक···। मुझ में और मेरे सामने खड़े हुए एक दिगम्बर वृक्ष, उस ठूँठ में—कम-से-कम इस समय, इतना ही अन्तर है कि मैं स्वेच्छा से उस स्थान को छोड़ सकता हूँ, किन्तु वह बेचारा निरुपाय है। अपने सामने और दाँए-बाँए आने-जानेवाली भीड़ को मैं बखूबी देख रहा हूँ—सामने से कोई जुलूस-सा चला आ रहा है, नारे लगाता हुआ···'इन्कलाब जिन्दाबाद', 'हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई', 'महात्मा गांधी की जय'···आदि, आदि !

जुलूस निकल गया, मैं खड़ा रहा—भीड़ गुजरती रही और मैं सोचता रहा। क्या सोच रहा था कि अनायास ही, एक सहमी-सी मुसकराहट मेरे ओठों पर फैल गई। खड़ा-खड़ा जब थक गया, उकता गया, तब

घर की ओर लौट दिया। आकर पलंग पर गिर गया। घावों में बड़ा दर्द-सा महसूस हुआ, ये शारीरिक नहीं वरन् मानसिक घाव थे!

…और अब धीरे-धीरे, एक 'काली कोयले-सी डाक्युमेंट्री फिल्म' मेरी आँखों के सामने घूमने लगी—देश के स्वर्णिम इतिहास में, दुर्भाग्य ने एक अमानवीय अध्याय का श्रीगणेश किया और तवारीख के कुछ पन्ने स्याह हो गए। आजादी मिली और स्याही दियों में जलकर रोशनी बन गई—उजाला हो गया। उजाले को किन्तु अँधेरा पी गया और फिर वही स्याही, सिर्फ स्याही! इस बार उसमें कालिमा न थी, रक्तिम लालिमा थी!

'डायरेक्ट एक्शन' और उसका फिर 'रिएक्शन'—पंजाब सिसक रहा है, इंसानियत खून के आँसू रो रही है। हैवानियत के वजन से दबी हुई, इंसानियत के बाकी बोझे को लादे हुए, हर रोज रेल-गाड़ियाँ चीखती-चिल्लाती और सिर धुनती हुई चली आ रही हैं। इनमें, इंसानियत पर हावी हैवानियत के खूनी पंजे से निकली, दर्दनाक नंगी तस्वीरें चल-फिर रही हैं! मनुष्यता-द्रौपदी की सारी साड़ी, पशुता का दुश्शासन खींचे ले रहा है, किन्तु योगिराज कृष्ण का कहीं पता नहीं है! सारा पंजाब आग की भयंकर लपटों में धू-धूकर जल रहा है…चारों ओर भीषण चीत्कारें कान के परदों को फाड़े डाल रही हैं। अरे, यह सामने कोलाहल कैसा है? भाले, बरछियाँ और तलवारें लिए हुए एक बड़ा-सा मजमा चला आ रहा है…मगर यह क्या, उफ! भालों की नोकों में, नन्हे-नन्हे, दुधमुँहे बालकों के निरपराध और मासूम सिर झूल रहे हैं!…और…और, उधर—वस्त्रहीन स्त्रियाँ, घसीटते हुए लाई जा रही है और…उनके साथ…! इतिहास की जुबान जड़ हो गई है, इंसानियत की आँखें पथरा गई हैं और शायद युग-युग तक दोनों, इसके जवाब में, अपनी कोई दलील—कोई सफाई पेश न कर सकेंगे। शर्म से गिरी हुई इनकी नजरें ऊपर न उठ सकेंगी!

…फिर हलचल, श्मशान हुई। निराशा के निविड़ अन्धकार में से आशा की तेजोमयी किरण का उदय हुआ! मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम का रथ सामने चला आ रहा है—"भूलते क्यों हो, एक देवी सीता के लिए राम-रावण युद्ध के महायज्ञ का अनुष्ठान किया गया! असंख्य ने अपना रक्त-दानकर उन्हें बन्धन-मुक्त किया।" और अपनी अपराजेय मुसकान बिखेरते हुए वह निकल गए।

…'यदा-यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत—अभ्युत्थानम् धर्मस्य, तदात्मानम् सृजाम्यहम्!' यह किसकी देव-वाणी है? सामने गीता के सृष्टा योगिराज श्रीकृष्ण हैं—"और तुम्हें यह भी ज्ञात है कि एक द्रौपदी की लज्जा-मूल्यांकन हेतु महाभारत के महासमर का पांचजन्य गूँजा!"

——और तब, कैलाश पर समाधिस्थ, भगवान् शिव-शंकर दृष्टिगत हुए। मैं दौड़कर उनके चरणों में जा गिरा, उनकी समाधि भंग हुई। नेत्र खोलकर, गम्भीर मुसकान में वे बोले—"तुम समय से आए, मैं अभी ध्यानावस्थित तुम्हारी ही कल्पना कर रहा था। धरती पर आज, एक नहीं, सैंकड़ों सीताएँ और सैंकड़ों नहीं हजारों द्रौपदियाँ करुण क्रन्दन कर रही हैं—रक्त के आँसू रो रही हैं। वत्स, तुम शीघ्र जाओ और अशांति की जीवित लाश पर शांति का शीतल श्वेत आवरण उढ़ा दो!"

—कि इतने में ही, किसी के स्पर्श से मेरा स्वप्न भंग हो गया। देखा तो, माँ थी।

"क्यों माँ, क्या बात है?" मैंने घबराकर पूछा, स्वप्न की छाया अभी भी मेरे साथ थी।

"कुछ तो नहीं, बेटा। कुसमय तू सो रहा है इसीलिए तुझे जगा-भर दिया।" माँ ने मेरी घबराहट को अपनी तसल्ली का सहारा देते हुए कहा।

उठकर मैंने हाथ-मुँह धोया । कपड़े पहनकर बाहर जाने को ही था कि माँ ने आकर रास्ता रोक लिया—वह जानती थी कि उसके राजा बेटा ने कल से कुछ भी खाया-पिया नहीं है । माँ का मन रखने के लिए मैं मन मारकर खाने तो बैठ गया पर मुझसे खाया नहीं गया । माँ ने चिंतित होते हुए पूछा—"क्या बात है बेटा, जी अच्छा नहीं है क्या ?" और अपने सवाल का जवाब सुने बिना, खुद ही बोली—"जी अच्छा रहे भी तो कैसे, भला ? न ठीक से खाना-पीना, न शरीर को आराम । इसीलिए तो कहती हूँ बेटा, मेरे जिन्दा रहते अपनी शादी…"

"शादी, शादी, शादी ! जब देखो तब वही, शादी ।" हाथ का कौर छोड़ते हुए, मैंने कहा—"तुम शादी की बात करती हो, माँ ? देखती नहीं हो कि चारों ओर बरबादी के काले-काले बादल, अभिशाप की छाया-से सिर पर मंडरा रहे हैं और फिर भी तुम कहती हो शादी, बोलो न माँ…?" मुझ से खाया नहीं गया, पानी के सहारे दो-चार कौर गले के नीचे उतारे और उठ बैठा । मुँह साफ किया । माँ तकती ही रह गई और मैं घर से बाहर हो गया !

मैं चला जा रहा हूँ, चलता ही जा रहा हूँ—न रास्ते का पता है और न मंजिल का ही ! कहाँ जा रहा हूँ, किस ओर जा रहा हूँ, क्यों जा रहा हूँ आखिर ? कुछ भी तो नहीं जानता ।

अन्धकार का स्याह परदा पृथ्वी-तल पर गिर रहा है—संसार के रंगमंच पर जैसे किसी दुःखान्त नाटक का पटाक्षेप हुआ हो ! यह तो जीवन की हाट है, चलती-फिरती नाचती हुई कठपुतलियाँ हैं और हैं उनकी कर्म-गति, श्वासों की ये हाटें, जुड़ती रहेंगी, उठती रहेंगी—यह परदे भी उठते और गिरते रहेंगे ! एक क्षण पश्चात् ही, फिर कोई परदा उठनेवाला

है—कोई नाटक प्रारम्भ होनेवाला है, यह कोई नहीं जानता ! विधाता ने भविष्य अज्ञात रखा है । यह भी एक नाटक है ताकि अकर्मण्य और उदासीन होकर, मनुष्य की गतिशीलता कहीं नष्ट न हो जाए !

…और मेरे पग अनन्त शून्य में, रात्रि की उस सघन नीरवता को भंग करते हुए, बढ़े ही जा रहे हैं। एकायक मेरे तूफानी पग थम गए। गली में, मैं जहाँ खड़ा था उससे थोड़े फासले पर, म्युनिसिपैलिटी की लालटेन के धुँधले-प्रकाश में मैंने देखा कि दो-तीन बदमाश एक युवती को बलात् खींचने की कोशिश कर रहे हैं और वह चीखना चाहकर भी चीख नहीं पा रही है, उसके मुँह में कपड़ा-सा कुछ है ! बस फिर क्या था, सोचने में देर लगती है, उससे भी जल्दी मैं भूखे शेर की तरह उन खूंख्वार भेड़ियों पर जा टूटा। 'पहले मारे सो मीर'—मेरे अचानक हमले से गुण्डों के हौसले पस्त पड़ गए, सब-के-सब एकदम घबड़ा गए। अब मेरा काम और भी आसान हो गया, झट-से मैंने एक को उठाकर जमीन पर दे मारा और उसकी लाठी छीन ली। लाठी का मेरा अभ्यास अच्छा था, मार खाकर दोनों नौ-दो-ग्यारह हो गए, किन्तु पीछे भी कोई है, इसका मुझे ध्यान ही न रहा—कि मेरे सिर पर लाठी का एक वजनी वार हुआ। मैंने गिरते-गिरते पीछे घूमकर उसका जवाब दिया—लाठी ठीक अपने निशाने पर पड़ी और वह भी सिर थामे हुए गिरता-लड़खड़ाता रफूचक्कर हो गया !

आकाश में काफी बादल होते हुए भी मेरी आँखों के आगे तारे ही तारे नाच रहे थे। सिर्फ इतना महसूस जरूर हुआ कि किसी नर्म-सी जगह में मेरा सिर रखा हुआ है और सिर पर कुछ मृदु-शीतल स्पर्श ! कुछ बूंदा-बाँदी भी हुई शायद, कह नहीं सकता आकाश से या…? फिर मुझे थोड़ा भी होश न रहा।

माथे पर ठंडक पाकर, मैंने आँखें खोल दीं। देखा तो, एक नव-युवती—'नव' इसलिये शायद कि उसने किशोरावस्था की कुँआरी छाँह से यौवन की धूप में अपना पहला चरण अभी बढ़ाया ही है—मेरे सिरहाने झुकी हुई मेरे रूखे बालों में अपनी सुकुमार उँगलियाँ उलझाए हुए है ! आश्चर्यमिश्रित हर्ष की अनुभूति में मैंने दो प्रश्न किए—"तुम कौन···मैं कहाँ हूँ ?"

"मैं···मैं कौन हूँ ? इसका उत्तर तो शायद आपके ही पास है ! बीते हुए कल के बाद जैसे मेरा 'मैं' हमेशा के लिये खो गया है—मेरा अपना अस्तित्व, मेरा शरीर और यहाँ तक कि मेरी आत्मा तक परायी हो गई है !" उसकी नजरें नीचे गिर गईं—सुहागरात को जैसे कोई नव-वधू घुटनों तक अपना घूँघट खींच ले ! अश्रुप्लावित दृष्टि उठाकर उसने फिर कहा—"इस दुनियाँ के भरे बाजार में आपने मुझे नीलामी और बरबादी से बचाया है ! जिन्दगी की इन टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों में, उतार-चढ़ावों में, मुझे आपका ही सहारा है। मेरा अपना सब कुछ अब आपके इन चरणों में एकाकार हो गया है—और हाँ, आप इस समय लखनऊ के सिविल हॉस्पिटल के एक स्पेशल वार्ड में मेरे पास हैं !" इतना कहकर वह मुस्करा दी, लगा कि जैसे कमल ने अपनी पंखुड़ियाँ खोल दी हों; किन्तु साथ ही जल-कण भी छलछला उठे।

विचारों में डूबते-उतराते, मैंने खिड़की के बाहर की ओर देखा—सारा लखनऊ भोर के पूर्व की स्वर्णिम अरुणिमा से भर रहा था; जैसे निशा-सुन्दरी की बिदा की आहट से बाल-रवि ने अपने अलसाए नेत्र खोलना चाहे हों !

"सुबह अब दूर नहीं है। आनेवाली यह सुबह, हमारे लिए एक नई, रंगीन और हसीन जिन्दगी का सुनहरा पैगाम लेकर आएगी !" उसके

इन शब्दों से मेरी विचार-तन्द्रा टूट गई, मैंने आश्चर्य से उसकी ओर अपलक देखा।

"किन्तु, क्या यह सम्भव है ?" मैंने अपनी उस क्षणिक भावुकता से जीवन की वास्तविकता की ओर लौटते हुए कहा और अपने-आपमें उलझ गया। वह मेरे सामने थी—ठीक मेरे अन्तर के, कोलाहल के दर्पण की तरह !

"हाँ, यह सम्भव है, प्राण।" उसने मेरे पैरों पर झुकते हुए कहा।

"लेकिन···लेकिन माँ···"

"माँ से क्या पूछते हो, बेटा ? अन्धा क्या चाहे, दो आँखें !" हम दोनों ने साश्चर्य देखा—दरवाजे पर मुसकराती हुई माँ खड़ी है। मैंने उठने की कोशिश की, उसने सहारा दिया; हम दोनों माँ के चरणों पर झुक गए। माँ ने दोनों के सिरपर अपना वरदहस्त रखते हुए शुभाशीर्वाद दिया—"गंगा-यमुना में जब तक पानी है, तुम्हारा जीवन और सुख कभी नष्ट न हो !"

उस रात मुझे अस्पताल का वह स्पेशल वार्ड, किसी शीशमहल के विश्राम-कक्ष से कहीं अधिक आलीशान और आरामदेह महसूस हो रहा था।

"चलो, हम लोग भी कर्त्तव्य-पथ पर, नई उमंग और नए जीवन के साथ अग्रसर हों।" माँ ने हर्षातिरेक में कहा। हम लोग सड़क पर आ गए—जिन्दगी मुसकरा रही है और हम भी नई राह पर बढ़ दिए।

जाला, उलझन और आकृतियाँ

जिस समय मैंने क्लब के मनोरंजन-भवन में पैर रखा, मुझे आश्चर्य हुआ कि वहाँ किसी विषय पर गरमागरम बहस छिड़ी हुई है।

"हलो शैवाल! आज इतनी देर से?" श्रीकुमार ने पूछा। मेरे आने से, वहाँ एक एक्स्ट्रा इंटरवल-सा हो गया जैसा कि कभी-कभी हॉल की बिजली चली जाने से सिनेमा में हो जाया करता है।

"हाँ भाई, थोड़ा विलम्ब हो गया और इसीलिए अब दण्डस्वरूप, आप लोगों के समक्ष मौखिक क्षमा का प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किए दे रहा हूँ।" मैंने श्रीकुमार के पास की ही एक कुर्सी पर बैठते हुए कहा—"बात यह है कि आज चेम्बर में, एक बड़े ही अच्छे विषय पर आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भाषण था।"

"वाह भाई, यह तो बड़ा अच्छा हुआ कि तुम आचार्यजी का भाषण सुनकर चले आ रहे हो। तब तो फिर, मूड में होगे ही—और यहाँ भी हम अभी साहित्यिक विषय पर ही बहस कर रहे थे।" सामने बैठे हुए प्रो० शर्मा ने मुसकराकर कहा—"और मित्रो, अब मैं आप लोगों से विदा चाहता हूँ, कारण आजकल मेरी श्रीमतीजी का मस्तिष्क-संतुलन जरा''हाँ! अच्छा, कल फिर मिलेंगे—शुभ रात्रि।" इतना कहकर वे हॉल के बाहर हो गए।

सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े—अट्टहासों का एक शोर, धूल के बवण्डर-सा उठा और नीचे बैठ गया।

"देखिए, अब कार्रवाई आगे चलाई जाए और उसके लिए यह आवश्यक है कि प्रो० शर्मा के रिक्त स्थान की पूर्ति हो—इसके लिए मैं श्री चाचा का नाम प्रस्तावित करती हूँ।" सुश्री कृष्णा ने मीटिंग की उतरी हुई गाड़ी को पटरी पर लाते हुए कहा।

"ठीक है !" सबने एक साथ कहा।

"हाँ तो, सवाल—शैलेन्द्र ने खड़े होते हुए कहा—विषय यह चल रहा था कि क्या आज के साहित्यकार अपनी मंजिल पर पहुँचने के लिए उसी सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के प्रशस्त पथ पर बढ़ रहे हैं जिसे हमारे साहित्य के पूर्व युगपुरुष तुलसी, सूर, मीराँ, कबीर, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि ने अपने पुनीत एवं महान् प्रयास से निर्मित किया था ?"

"मैं आज के इस महत्त्वपूर्ण विषय का हार्दिक स्वागत करता हूं और इसके लिए आप सबको बधाई देता हूं। वास्तव में हमारे इस कहानी-क्लब में, ऐसे ही सामयिक एवं महत्त्वपूर्ण विषयों को लेकर विचार-विमर्श होना चाहिए।" श्री चाचा ने कु० कृष्णा की ओर उन्मुख होते हुए कहा—"अब मैं चाहूँगा कि अपने शहर की एक अच्छी कवयित्री तथा लेखिका सुश्री कृष्णा इस विषय पर अपने विचार प्रकट करें।"

"श्रद्धेय चाचाजी तथा मित्रो !

आज का हमारा विषय जितना सुन्दर है, उतना ही कठिन भी। मुझे महसूस हो रहा है कि मैं उलझन में पड़ गई हूँ—उस मकड़ी की तरह जो अपने बुने हुए जाले में खुद-ब-खुद फँस जाए। ईमानदारी से तो, दो

एक बात यह है कि उँगलियों पर गिनते समय, ऐसे साहित्य-कारों की गिनती उँगलियों का दिवाला निकलने से पहले ही समाप्त हो जाएगी जो तुलसी, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि के आदर्शों पर चल रहे हैं। वास्तविकता यह है कि किसी ने तो प्रयोगवाद की नसेनी खड़ी कर ली है और किसी ने किसी और वाद का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है। अगर वादों की रफ्तार कुछ और तेजी पकड़ सकी, जिसके आसार कुछ-कुछ नजर आ भी रहे हैं, तो मैं दावे से कह सकती हूँ कि एक-एक कवि का अपना-अपना वाद होगा, चाहे वह कविजी की चहारदीवारी तक ही क्यों न सीमित हो। तब फिर, जितने कवि होंगे उतने ही वाद और जितने वाद होंगे, उतने ही विवाद भी।" और एकदम कु० कृष्णा अपनी कुर्सी पर बैठ गईं जैसे कि मकड़ी जाले की उलझन से बाहर आ गई हो।

"दोस्तो, मुझे कृष्णाजी की दलीलों पर आपत्ति है!" तैश में खड़े होते हुए विद्रोहीजी ने गर्जना की—"देखिए, मैं कहना चाहता हूँ कि जहाँ उन्होंने आज के लेखकों पर कीचड़ उछालने की कोशिश की है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने स्वयं को तथा लेखिकावर्ग को बेदाग बचा लिया है! मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि क्या स्वयं वे और आज की अन्य लेखिकाएँ, अपवाद छोड़ दीजिए–मीराँ, महादेवी, सुभद्रा आदि के आदर्शों का पालन कर रही हैं? क्या वे 'खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसीवाली रानी थी' के स्थान पर—'खूब भरी आहें, वह तो प्रेम-पुजारिन थी' जैसे सस्ते शृंगार-साहित्य का निर्माण नहीं कर रहीं? क्या हीरे-जवाहरातों के स्थान पर, इन खोटे और नकली साहित्य-सिक्कों से माँ भारती का, वीणा-वादिनी देवी सरस्वती का कोष सम्पन्न और वैभवपूर्ण हो सकेगा? मैं कृष्णाजी से उत्तर चाहता हूँ, यदि उनके पास हो!"

चाचा ने देखा, इसके पूर्व कि कृष्णाजी कुछ कहें, एक···दो···तीन-

तीन लोग एक साथ उठ खड़े हुए—ये जगदीश, मुकुल और प्रकाश थे ! इसके पहले कि वे कुछ बोलें, उन्होंने कहा, "मित्रो, आज के इस स्व-निर्मित जाले में हम लोग आवश्यकता से अधिक उलझे जा रहे हैं और सुलझने के स्थान पर उलझा-उलझी कुछ बढ़ती ही जा रही है। अतएव, अच्छा होगा कि कल रविवार है—हम लोग प्रस्तुत विषय पर अच्छी तरह सोचें, मनन करें और तब कल तैयारी के साथ अपने-अपने विचार तथा सुझाव रखें। आइए, अब हम मौसम की माँग पूरी करें और गरमागरम चाय तथा पकौड़ी-गरम पर भी अपना हाथ आजमाएँ।"

तालियों की खत्म होती हुई गड़-गड़, प्यालों की बढ़ती हुई खन-खन में डूब गई।

काफी रात गए, क्लब से लौटा। चारपाई पर लेटा तो नींद गायब—कई कप चाय जो पी गया था। एक तो चाय का नशा और दूसरे बहस की बेचैनी, जैसे कि सिर-दर्द और बुखार एक साथ चढ़ाई करदें। लग रहा था कि चारों ओर मकड़ियाँ तेजी से अपना जाला बुन रही हैं ! खैर, किसी तरह करवटें बदलता रहा, बदलता रहा···

और अब, एक अत्यन्त करुण ध्वनि मेरे कानों में प्रविष्ट हो रही है : "जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छाई। दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई !"

मुझे लगा कि जैसे किसी ने मेरी घायल हृदय-वीणा के तारों पर दर्दभरा सरगम छेड़ दिया है।

साथ ही, दरवाजे के झीने परदे के पीछे—एक धुँधली और अस्पष्ट

आकृति मुझे दृष्टिगत हुई। "आइए, इधर चले आइए !" मैंने कहा और साश्चर्य मैं अपनी चारपाई पर उठकर बैठ गया।

आगन्तुक सीधा मेरी चारपाई के पास चला आया और एक कुर्सी खींचकर समीप ही बैठ गया। उनके बैठते ही, मैं कुछ सोचकर यकायक चौंका और भावावेश में खड़ा हो गया— "प्रसादजी !...महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' ? जो 'कामायनी' जैसे महाकाव्य के स्रष्टा हैं !" मेरे होंठ कुछ-कुछ हिले—यदि रामायण के बाद, हिन्दी ने विश्व-साहित्य को कोई अनुपम उपहार दिया है, तो वह महान् देन 'कामायनी' ही है !"

"क्यों, क्या बात है ? तुमने मुझे पहचानने में भूल नहीं की है, बैठो !" प्रसादजी ने अपनी स्वाभाविक मुसकान से कहा।

मैं चारपाई पर बैठनेवाला ही था कि मुझे परदे के पीछे, फिर कुछ हलचल महसूस हुई। दरवाजे में प्रवेश करते हुए व्यक्ति को मैंने ग़ौर से देखा और साथ ही मेरी दृष्टि दरवाजे के ऊपर लगी हुई तसवीर पर चली गई और तसवीर उसकी आड़ में हो गई—लगा कि जैसे तसवीर की आकृति, फ्रेम तोड़कर, साक्षात् निकली चली आ रही है !

मैंने आश्चर्य से प्रसादजी की ओर देखा। वे मेरे भावों को ही पढ़ रहे थे, हँसकर बोले—"हाँ, ठीक ही तो है। यही हैं उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द !" मैंने उन्हें नमस्कार किया और वे अपनी मूँछों में कुछ-कुछ हँसते हुए, बिना किसी तकल्लुफ के, चारपाई पर ही बैठ गए और मुझे भी पास ही बैठा लिया।

"बात यह है, भाई—प्रसादजी ने कुछ रुककर कहा—हम लोग आधुनिक, मेरा अभिप्राय है हम लोगों के पश्चात् के, हिन्दी-साहित्य एवं साहित्यकारों की वस्तुस्थिति से अवगत होना चाहते हैं !"

"क्या निवेदन करूँ ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है ! आज के नए-नए बरसाती मेंढकों जैसे साहित्यकारों की मौसमी टर्र-टर्र और व्यवसायिक दृष्टिकोण पर आधारित उनकी साहित्यिक प्रतिद्वंद्विता, उनके बाजार भाव और उनकी चीजों के टिकाऊपन को साफ जाहिर करती है !" निराश-सा मैं आगे कुछ कहते-कहते रुक गया—मुझे लगा कि जैसे प्रसादजी कुछ कहना चाहते हैं।

"वास्तविकता यह है—प्रसादजी ने अत्यन्त गम्भीर स्वर में कहा—साहित्य और उसके विभिन्न अंग—कविता, कहानी, निबन्ध, सब-कुछ लेखक के अन्तःकरण की प्रेरणा से प्रस्फुटित, आत्मा की प्रतिध्वनि-मात्र हैं ! हमारी विचार-सरिता का जल जितना शुद्ध और गम्भीर होगा, भावों का प्रतिबिम्ब भी उतना ही सुस्पष्ट एवं साकार होगा ! अगर हृदय कलुषित होगा तो उस मटमैले जल में प्रतिबिम्बित भावों की तसवीर भी धुँधली और विकृत हो जाएगी ! और हाँ, आत्मा के अथाह सागर का जल यद्यपि गम्भीर हो, किन्तु साथ ही रमते जोगी तथा सरिता के बहते पानी की भाँति प्रवहमान, नहीं तो ठहरे हुए पानी में गन्दगी के कीटाणु अपना सिर उठाने लग जाएँगे !"

"यह तो ठीक है—प्रेमचन्दजी बोले—किन्तु, इन सुन्दर और कुरूप बेटियों के पिता 'साहित्य-महारथी' ही जब हमारे समाज के खुले बाजार में, उन्हें कोठों पर बैठने के लिए मजबूर करें और सस्ते दामों पर उनकी बेशकीमती अस्मत का सौदा करें, फिर वे—साहित्य, संस्कृति और समाज की बुनियाद खोदनेवाले नहीं, तो क्या हैं ? वे खुलेआम बाजार में खड़े होकर अपनी बेटियों की नीलाम-बोली लगाते हैं—साहित्य के साथ व्यभिचार करते और कराते हैं। एक ओर वे ऐश करते हैं, मौज-मजे मनाते हैं और दूसरी ओर, कलम का मजदूर भूखों मर जाता है—फिर भी लोगों की आँखें बन्द ही हैं, शायद वे मेरे अजीज 'निराला' के साथ भी उसी पुरानी गलती को दुहराना चाहते हैं !"

"आखिर इन लोगों का इलाज क्या है ?" अब मैंने साहस कर अपना मुँह खोला—हिन्दुस्तान में, आजकल अफीम का धन्धा करने वाला जो एक देशव्यापी गिरोह है और जो साइकलें चुराना, शराब बनाना, लड़कियाँ उड़ाना आदि सब काले कारनामों में शामिल है; ठीक उसी तरह, इन साहित्यिक गिरहकटों के गिरोह में–चोरी, डकैती, चारसौ बीसी, आठसौ-चालीसी और सोलहसौ-अस्सीगीरी से लेकर, दूसरों की कविता-कामिनी का अपहरण, देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्म की भाँति लेखक महोदयों का रूप-परिवर्तन और दुर्गादास खत्री के वैज्ञानिक आधार पर, कहानी महोदया को साफ-साफ उड़ा देना तो इनके बाएँ हाथ का खेल है। अगर इनकी काली करतूतों और उस्तादी कारनामों से हिन्दुस्तान के डाकू-वर्ग के वर्तमान कर्णधार—रूपा, लाखनसिंह, अमृतलाल और देवीसिंह आदि वाक़िफ हो जाएँ तो शायद वे लजाकर साधु बन जाएँगे !"

कुछ रुककर, मैंने फिर आगे कहा—"एक डाकू लाल जो पकड़ा गया, धोखा देकर फिर छूट गया और कालान्तर से शायद फिर पकड़ा जाएगा, मगर···'अब के कवि खद्योतसम, जहँ-तहँ करत प्रकास'—इन माई के लालों का क्या होगा ? बरसाती मेंढकों की तरह, ये जो टर्र-टर्र करते हुए बरसात की हर पहली झड़ी के साथ अड़ पड़ते हैं, इनका आखिर क्या इलाज है ?"

"इनका इलाज होगा, अवश्य ही होगा—महाकवि प्रसाद ने अपनी अपराजेय मुसकान बिखेरते हुए, एक अटल विश्वास में कहा—यह सुनिश्चित है कि समय के तीव्र प्रवाह में, ये कीड़े स्वतः ही नष्ट हो जाएँगे; किन्तु दुःख इस बात का है कि समाज के गटर में, ये वर्णसंकर अण्डे जो अपने पीछे छोड़ जाएँगे, वे एक अनिश्चित समय तक के लिए संक्रामक कीटाणु इस जल में पैदा कर देंगे ! ···और समाज

की स्वच्छ-निर्दोष साहित्य-त्वचा पर रिस-रिस कर लगनेवाले इस पानी से, कोढ़ के दाग उभर-उभरकर उसके सौन्दर्य को कुरूपता का कफन उढ़ा देंगे !"

लिखना इसलिए है—मैंने मन ही मन सोचा—यदि गुलेरीजी की तरह, तीन ही कहानी लिखी जा सकें और एक 'उसने कहा था' बन सके ! हमें प्रेमचन्द और प्रसाद की भाँति, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की साहित्य में प्राण-प्रतिष्ठा करनी है । लिखना इसलिए है कि वह एक कला है, लिखना ऐसा है कि कला केवल कला की परिधि तक ही सीमित न रह जाए, कला मनुष्य-जीवन की भी संगिनी बन सके । तब फिर, सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के पुनीत मंदिर में, स्वस्थ साहित्य के शुभ्र रूप की प्राण-प्रतिष्ठा की जा सकेगी !

टन···टन···टन ! पास के मंदिर की घंटियाँ एक साथ बज उठीं और मेरी आँखें खुल गईं—मैंने उन सुपरिचित आकृतियों को अपने आस-पास ढूँढ़ने की बहुत कोशिश की । न वहाँ आकृतियाँ थीं और न उनकी छाया ही, न वहाँ प्रसादजी थे और न मुंशी प्रेमचन्द !

आकृतियाँ मेरी आँखों से ओझल हो गईं थीं और अब मकड़ी का जाला भी, मुझे अपने चारों ओर महसूस नहीं हुआ; न ही किसी उलझन की अनुभूति । सब-कुछ एकदम साफ था—बन्धनमुक्त, हलका और सुस्पष्ट !

जीत की हार

उस दिन जब कि मैं पाठशाला से घर वापस लौट रहा था, चमेली चाची की दूकान पर कुछ शोर सुनकर ठिठक गया । दूकान तो क्या थी, कबाड़खाना जैसा कुछ था । परन्तु हाँ, जरूरत की लगभग हर चीज़—अच्छी नहीं तो बुरी ही हालत में लेकिन सस्ते दामों पर, मिल जरूर जाती थी । फिर यह बात भी थी कि मोहल्ले के ठीक सिरे पर होने के कारण, चाची का रिश्ता भी तो निभाना पड़ता था ।

बात दरअसल में यह है कि तम्बाकू, और वह भी खास मैनपुरी, खाने का मैं पुराना आदी हूँ । स्कूल जाते समय एक और वहाँ से लौटते समय दूसरी, इस तरह दिन में दो पुड़ियाँ चाची की दूकान से लेना, मेरे लिए रोज़मर्रा की जरूरत में शुमार हो गया था । उधर, चमेली चाची भी इस मामले में चाची क्या, पूरी मेरी नानी थीं, नानी ! फर्क यदि कुछ था तो बस इतना ही कि मैं खाता था और वे पीती थीं, चिलम में । ऐसे मुझसे लगभग मिलते-जुलते लोगों को, देखने-सुननेवाले एक ही थैली का चट्टा-बट्टा समझते थे—एक ही जाति-बिरादरी का । यह बात दूसरी थी कि कोई चवन्नी, तो कोई अठन्नी और कोई रुपया था !

मेरी यह आदत अच्छी है या बुरी—यह सवाल ही ज़रा टेढ़ा है । यद्यपि यह निश्चित है कि किसी भी बात का आदी होना उतना ही बुरा है, जितना कि किसी अच्छी बात से दूर रहना ! फिर अच्छे-बुरे की पहचान का जहाँ तक सवाल है, वह तो अपने-अपने ख्याल की अपनी-

अपनी तराजू पर तोली जाती है। जो कुछ भी हो, न खानेवाले तो मेरी इस आदत को बुरा ही कहते थे और यदि मुँह पर एक बार न भी कहें तो, पीठ पीछे तो जरूर ही कहते थे। किन्तु, बावजूद इसके, मेरी पीठ थपथपानेवालों तथा शाबासी पर शाबासी, बिना मोलभाव के देनेवालों की संख्या भी कुछ कम न थी। वे सब के सब यह कहकर कि "यदि भगवान् भोलानाथ-बंभोला, भाँग का लड्डू बराबर गोला चढ़ा सकते हैं तो इस चूरण सी चुटकीभर बेचारी की हस्ती ही क्या है, शंकर की उस प्रलयंकरी मस्ती के आगे ?" मुझे अपने कार्य की सचाई की ऊँचाई के आकाश पर चढ़ा देते थे। तब मैं उस घमंडी मेंढ़क की तरह फूलकर कुप्पा हो जाता था जो शान में अपना पेट फुलाता गया, फुलाता ही चला गया और फिर, गुब्बारे की तरह एकदम फट पड़ा!

खैर जो कुछ भी हो, अपनी औक़ात का—चादर की लम्बाई का ख्याल तो रखना ही चाहिए! यहां पर, एक बात और भी साफ कर देना चाहता हूँ कि मेरी इस आदत की तारीफ की 'चीन की सबसे ऊँची दीवार' उठानेवाले ये सब 'भोले-भाले', मैनपुरी की जादुई पत्तियों के प्रबल समर्थक और पुजारी थे!

हाँ तो, उस दिन शाम को भी दूर से ही चाची को दूकान पर बैठा हुआ देखकर, इच्छा होते हुए भी रुकना तो नहीं चाहता था; कारण जैसे ही हाथ जेब में डाला वैसे ही लगा कि वह पाताल में पहुँच गया! देखा तो जेब ही फटी थी और तब मैंने फटी-फटी आँखों से मैनपुरी की उन जादुई पुड़ियों पर अपनी नजर दौड़ाई—जैसे कोई बच्चा मिठाई की दूकान के सामने पहुँचकर, उसे न खरीद सकने की लाचारी पर निराश हो जाता है। आदत ने यद्यपि जोर मारा, पर मजबूरी ने तुरन्त लपककर उसे दबोच लिया। तलब को ही पीने की कोशिश करता, कुछ अड़चन के साथ गले के नीचे उतारता हुआ, मैं आगे बढ़ जाना चाहता था...

और तभी, मैंने चाची की दूकान पर के उस शोर को सुना। लपककर उधर गया तो देखता क्या हूँ कि इन्दु, राका और राजीव—ये मेरे मोहल्ले के ही एक लड़का तथा दो लड़कियाँ थीं; जरा-जरासे किन्तु बड़े ही तेज तूफ़ान को मात देनेवाले—एक साथ उस बेचारी बुढ़िया को घेर-घार कर, उसका नाक में दम किए दे रहे थे। साथ में, आस-पास और भी क्लास के छोटे-बड़े बच्चे थे और ऐसा मालूम दे रहा था कि अपना फौज-फाँटा लेकर कुछ शक्तिशाली राजा किसी निर्बल राज्य पर चढ़ दौड़े हैं।

बुढ़िया को भी अपनी दयनीय स्थिति का आभास हो चुका था। उसने अपने चारों ओर देखा, किन्तु सीमावर्ती पड़ोसी देशों से सहायता की कोई आशा न देखकर वह आत्मसमर्पण के लिए लगभग तैयार थी। किन्तु वहाँ उसकी भला सुनता कौन था नक्कारखाने में तूती की आवाज !

मुझसे यह अन्याय सहन नहीं हुआ। मैं उनके ठीक बीचोबीच आ खड़ा हुआ—"यह क्या बदतमीजी कर रहे हो, तुम सब के सब ?" मैंने डपट कर राजीव से पूछा, क्योंकि सिपहसालार बना तो वही खड़ा था, यद्यपि आवाज के उस दायरे में शामिल सब थे !

वार खाली नहीं गया। मैंने देखा—सिपहसालार साहब के पैर मैदान से उखड़ने लगे और एकदम वे सब के सब भाग खड़े होने की स्थिति में आ गए। किन्तु तभी, इन्दु ने क़रीब-क़रीब उखड़ते हुए मोर्चे को सम्हाला—

"देखिए साहब, बात यह है कि इस बुढ़िया ने हमारे पैसे पहले ही ले लिए हैं और अब सौदा देने में गड़बड़ कर रही है। बस, इतनी-सी तो बात ही है—कोई नदी-पहाड़ थोड़े ही।" ठीक कैंची की तरह चलती हुई जुबान से इन्दु ने अपनी सफाई पेश की।

सिपाही, सिपहसालार से भी ज्यादा तेज है—मन ही मन मैंने सोचा।

अब राजीव की ओर घूमा मैं, लेकिन वह तो ऐसा फिसड्डी निकला कि कबड्डी की पहली पारी में ही चला गया! उसके धीरज का बाँध चरचरा उठा, पानी बह निकला—"हाँ···बात···यही तो बात···आँ···आँ···!" और फफक-फफककर वह रो दिया जैसे बाँध फट पड़ने के कारण पुल पर बाढ़ आ गई हो।

मेरी सुप्त सहानुभूति ने अँगड़ाई ली, पलटा खाया, और रास्ते से ही अपना रुख बदल दिया—

"आखिर फिर बात क्या है, चाची? ठीक-ठीक क्यों नहीं बतातीं?" मैंने गुस्से को पीते-दबाते हुए तेज आवाज में कहा।

बुढ़िया का जिन्दगी के लम्बे सफर में थका हुआ दिल, झिड़की की दहशत से बैठ-सा गया। सहमी-सी आवाज में उसने कहा—

"ठीक ही बात कहूँगी, बेटा! अब किनारे पर नाव थोड़े ही डुबोनी है। बहुत गई, थोड़ी रही—हरे राम, शिवशंकर! बात यह है···" कहकर उसने अपनी भिंची हुई मुट्ठी में से एक दुअन्नी निकालते हुए आगे कहा, "इनकी यह दुअन्नी ही घिसी हुई है! अब तुम्हीं बताओ भला इसमें मेरा क्या कसूर है?"

"ओह, तो यह बात है!" मेरे मुँह से निकला—मुक़दमे की उलझन जैसे सुलझकर एकदम जज के सामने आ गई हो। मोहल्ले के इन छटे हुए, सनद-धारी ऊधमियों की सारी शरारत, पलक झपकते ही बखूबी मेरी समझ में आगई थी। मैंने आहिस्ते से, चाची की दूकान पर रखी हुई नीम की हरी छड़ी को उठाया और पीछे मुड़ा—

…भर्र !…भर्र !!…भर्र…!!!

"अरे !" मैंने देखा सिपहसालार साहब, मय अपने बहादुर सिपाही के, नौ-दो-ग्यारह होकर मोहल्ले के दूसरे सिरे के मोड़ पर पहुँच चुके थे। नदी की बाढ़ अपने पानी को ही नहीं, आस-पास के नाली-नालों को भी अपने साथ बहा ले गई थी !

"खैर कोई बात नहीं, वे अब हमारी हद्द के बाहर खदेड़े जा चुके हैं।" किन्तु इतना कहकर जैसे ही मैं चुप हुआ, मैंने आश्चर्य से देखा कि एक छोटा सिपाही, शायद सबसे ही छोटा, अभी भी मैदान में खड़ा था, अड़ा था।

वह आगे बढ़ा, मेरी हँसी निकल गई—"क्यों राका, क्या बात है भला ?" मैंने प्यार से पूछा।

"बुलिया तो भूत बोलती है…आँ…आँ…!" रोते हुए सिपाही ने हिंसा छोड़कर, अहिंसा का रास्ता पकड़ा। पर क्या उस अहिंसा में सत्य का सम्मिश्रण भी था ?

मैंने नन्हीं राका को अपनी गोद में उठाकर, ढाढ़स बँधाया तो वह और भी जोर से रो पड़ी। अरे, अहिंसा में धैर्य और शौर्य की भी आवश्यकता होती है—मैंने सोचा।

"…आँ…आँ, इछने हमाली बलिया दुअन्नी अपनी थैली में दाल ली औल यह खलाव हमें बागिछ दे लही है…आँ…आँ…आँ…!" बच्चे अपनी तुतली जुबान से जो फैसला दे देते हैं, वह सुप्रीम कोर्ट का फैसला होता है जिसके आगे कोई नहीं जाता और यदि जाता भी है तो उसकी कोई सुनवाई नहीं होती !

मैं तब घूमा, बुढ़िया को देखा—उसके मुँह की थकी झुर्रियाँ,

जिन्दगी में एक बार फिर मुसकराने की कोशिश कर रही थीं। उनमें जिन्दगी की आन और जीत की मुसकान जरूर चल-फिर रही थी; किन्तु एक बेबसी भी थी—बुढ़ापे की शान का सवाल जो था, जहाँ हार ही हमेशा जीत है।

झुर्रियों-भरा हाथ थैली के भीतर गया, बाहर आया और मेरी ओर बढ़ा—एक चमचमाती हुई दुअन्नी काँपती-सी उस पर रखी थी, और जो उस हार का डंका पीट रही थी जो जीतकर भी हार गई थी!

आदाब, रोमियो सर !

मुझे कबाड़खाने से उतना ही लगाव है, जितना किसी शराबी को शराबखाने से ! जरूरी से जरूरी काम के लिए जाते हुए, रास्ते में किसी कबाड़िये की दूकान पर रुक जाना और कुछ तो भी ले डालना, मेरे लिए साधारण बात है। जितनी लगन मुझे इसमें है, उतनी ही बृज को इससे चिढ़ !

एक दिन दौलतगंज से गुजरते हुए, मेरी निगाह कबाड़िये की दूकान पर रखी, एक पुरानी और खस्ता मेज़ पर पड़ ही तो गई। बृज साथ था, उसके कान शायद खड़े हो गए, एकदम ही बोला—"अर-र-र, वह देखो किशन, उधर—मालूम पड़ता है कि दो मस्त साँड़ लड़ बैठे हैं और धूल भी तो कैसी उड़ रही है ? जल्दी चलो, बगलवाली इस गली में निकल चलें।"

"ठहरो, बुज़दिलों के बादशाह ! पहले जरा इससे दो-दो हाथ कर लूँ।" मैंने मेज़ की तरफ इशारा करते हुए कहा—"तब फिर तेरे साँडों को समझूँगा और तुझे भी !" यह कहते हुए मैंने जो एक भेद-भरी निगाह बृज पर डाली तो दोनों की हँसी निकल गई।

बृज ने चिढ़ाया—"हद होगई यार, इस सन् १८५७ की मेज़ पर ही तबीयत चल आई ? छोड़ भी; पिक्चर का टाइम निकल जाएगा।"

"जहन्नुम में जाए तुम्हारा पिक्चर और साथ में तुम ! पिक्चर तो रोज़ का है, मेज़ हाथ से निकल गई तो फिर हाथ मलते ही रह जाएँगे ।" और मैं कबाड़िये की ओर बढ़ गया ।

बृज बेचारे की एक न चली; हारकर खुद ही बोला—"कर भी डाल सौदा, दिल की दिल में क्यों रह जाए !"

ठोक-पीटकर मेज़ को देखा गया तो उसकी एक टाँग जगरो रूठ गई और बृज के हाथ में चली गई ।

"ओफ, यह तो लँगड़ी है !" बृज बड़बड़ाया ।

"लँगड़ी ही सही ।" मैंने फिर भी संतोष किया और कहा—"भगवान् न करे, तुम्हारी बीवी ही कहीं लँगड़ी हो जाए तो क्या तुम उसकी उपेक्षा करोगे ?"

"अजब चुकन्दर हो म्याँ ? तुम जैसा आदमीनुमा गधा तो मैंने कभी देखा ही नहीं ! अरे, अक्ल के दुश्मनों के शहन्शाह—खुदा न खास्ता लँगड़ी हो ही जाए, यह तो हुई क़िस्मत की बात । लेकिन लँगड़ी देखकर तो कोई बीवी नहीं बनाता, समझे कुछ '३' नुमा अक्ल के '६' नुमा दुश्मन !" बृज ने क़हक़हा लगाया ।

ख़ैर, जैसे-तैसे सौदा हो ही गया । हम दोनों उसे उठवाकर घर ले आए । उठाने-रखने में, बृज के पेण्ट की—उसी की भाषा में जैसा कि अक्सर वह कहा करता है—क्रीज़ मुथरी-सी हो गई और चाँद जैसी धवल कमीज़ कलंकित-सी ।

अब खीझने की बारी उसी की थी—"लाओ, निकालो अब लॉण्ड्री के पैसे ! पहले ही कह दिया था कि सन् ५७ के ज़माने की है, मगर तुम

काहे को सुनने लगे। खैर, अब इसे यहीं झाड़-पोंछकर भीतर पदार्पण कराना वरना, लँगड़ी रानी' सारे कमरे का कल्याण कर देंगी। अच्छा, अब मैं चला। खुदा हाफिज !" और वह सचमुच ही चिढ़ाता हुआ वहाँ से खिसक दिया।

इतवार की सुबह, बृज को चाय पिलाने का मेरा नियम है। यह नियम, मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि जिंदगी के कम-से-कम अब तक के दौरान में कभी टूटा नहीं। और टूटता भी कैसे ? एक कप चाय में तो आप बृज को चाहे हिन्दुस्तान ले जाएँ और चाहे पाकिस्तान !

इस दौरान का मगर आज पहला इतवार है कि सुबह तो हो गई और बृज लापता ! बाद में पता लगा कि सुबह चाय ही सिर्फ नहीं, उसे नाश्ता भी मिल गया था कहीं—जैसा कि सुबह न आ सकने के कारण, शाम को चार बजे ही श्रीमुख से उसने इस शुभ-समाचार की सूचना दी।

उसी कल वाली मेज के पास वह कुरसी खिसका लाया और बोला—"मालूम होता है कि सारी रात इसी में खराब की है। भई वाह, याने कि बिलकुल न्यू मॉडेल ही बना डाला है और…अरे, लँगड़ी भी तो नजर नहीं आ रही ! खैर छोड़ो भी, शतरंज किधर है ?"

"अशोक ने रखी है। शायद उसी की दराज में होगी !"

दराज आधा खोलकर, बृज ने हाथ डाला ही था कि चिल्ला पड़ा। मैं डर गया, पुरानी मेज है—कहीं किसी ने काट न लिया हो ? किन्तु तभी, उसके हाथ में एक खस्ताहाल डायरी नजर आई जिसकी जिल्द अपने दिन पूरे कर शायद उसी में रह गई थी।

"खैर तो है, बुद्धुओं के देश के शहजादे ?" मैं हँसा।

"सिर तुम्हारा, अंधेरनगरी के चौपट राजा ! तुम्हारे इस 'न्यू-मॉडेल' में यह 'पुअर' किसलिए ?" और उसने उछाल ही तो दिया उसे आकाश में, किन्तु मैंने बीच ही में ले लिया।

"अब क्या इसमें भी कोई लगाव है ? और यह तो शायद महाभारत के जमाने की ही होगी !" बृज अपनी आदत से लाचार, चीखा।

और मैं उलझ गया हूँ, डायरी के पन्नों में। बृज ने जो मेरे चेहरे पर, भागती-मुसकराती रेखाओं की आँख-मिचौनी देखी तो पास आकर बोला—"अमा यार, बड़े भाई ! ऐसी भी क्या खास बात है, जोर से जरा।" मैंने टालमटूली की, किन्तु छीना-झपटी में डायरी के पन्ने, पतझड़ के पत्तों की तरह यहाँ-वहाँ उड़ने लगे···

जिंदगी एक लम्बा सफर है, ट्रेन-सा। फिर चाहे वह मेल ट्रेन हो अथवा पैसेंजर। तेज रफ्तार वाली, धड़-धड़-धड़ और या फिर खचर-खचर, लचर-ढचर। और आए दिन की क़िस्म-क़िस्म की घटनाएँ हैं, उसके कम्पार्टमेंट्स—बेशुमार जो जिंदगी की इस लम्बी रेलगाड़ी में जुड़ते ही चले जाते हैं।

चलती-फिरती जिंदगी के लम्बे सफर की, दौड़ती-भागती रेलगाड़ी के ऐसे ही जुड़नेवाले एक कम्पार्टमेंट की यह कहानी है, एक अविस्मृत स्मृति !

कुछ दिन पहले की बात है। कितने पहले की है, यह अब ठीक-ठीक याद नहीं। इतना जरूर है कि जिंदगी कुछ ऐसे दिलचस्प वाक़यात

से गुज़र जाती है कि जैसे क्लोरोफॉर्म सूँघने की बेहोश हालत में कोई ऑपरेशन हो जाए और फिर होश आने पर नश्तर रह-रहकर कसकने लगता है ! जब कभी याद आने पर कुछ ऐसा ही महसूस-सा होने लगता है और कोई खूबसूरत याददाश्त गुदगुदाने भी लगती है ।

ओह, माफ कीजिए—मैं भी इसी गुदगुदी का ज़रा मज़ा ले रहा था। हाँ तो, मैं आपको एक बहुत पुरानी दास्तान जो जमाने बाद आज फिर से एक बार मेरे रेगिस्तानी हृदय-प्रदेश में रस-निर्झर बनकर फूट निकली है ! देखिए, आप फिर मुझे टोकेंगे कि मैं गुदगुदी के चक्कर में बहका ही चला जा रहा हूँ । अच्छा, तो फिर अब सुन ही लीजिए—

एक बहुत ज़रूरी काम से मुझे लखनऊ जाना था । दोस्तों ने सलाह दी कि रात का सफर आरामदेह होता है, मजे से सोते-सोते पहुँच जाओगे ।

रात को स्टेशन पहुँचा । यार लोग पहले ही से वहाँ मौजूद थे, पूरे प्लेटफार्म को सिर पर उठाए हुए ! जो भी हो, प्लेटफार्म देखकर मुझे थोड़ी तसल्ली हुई जैसे कि दिल, धड़धड़ाते तूफान मेल से—पैसेंजर ट्रेन में सफर करने लगा हो । कोई खास भीड़-भाड़ वहाँ न थी ।

मैंने बड़े भाई से कहा, यह दोस्तों में बड़े भाई ही कहलाते हैं—"अमा यार बड़े भाई, मेरी राय में तो ऊपर वाले का शुक्रिया अदा करना बेकार है, अभी से । भाई मेरे, इतनी सी बात भी नहीं समझे ? अरे, वह तो शुक्रिया लेकर चलते बनेंगे और गाड़ी में कहीं जगह न मिली तो, लौट के बुद्धू...हम कहलाएँगे !"

"क्या बात करते हो, डियर ?" घराटे जी चिल्लाए जैसे कि कोई बाँस फट गया हो—"हमारे होते हुए...!" और धड़धड़ाती हुई गाड़ी प्लेटफार्म पर आ लगी ।

धक्कम-धक्का, दौड़-भाग और शोरगुल शुरू हो गया—'पान-बीड़ी-सिगरेट', 'चाय गर्यम', 'ठंडा पानी, बरफ का पानी' और 'समोसा-पूड़ी गर्यम' की कान-फोड़ आवाजों से स्टेशन एक सिरे से दूसरे सिरे तक ठंडा-गरम होने लगा !

हम लोगों के सामने जो डिब्बा आया, उसी पर सब चढ़ दौड़े । पर अरे···अरे, यह क्या ? दरवाजा बन्द, खिड़कियाँ बन्द—भीतर कोई आवाज नहीं, हलचल नहीं ! अन्दर साँस बन्द, बाहर आस बन्द—एकदम सन्नाटा, पिन-ड्राप साइलेंस !! जैसे कि एयर-टाइट हो, बॉडस-कण्डीशण्ड ! बड़े धक्के दिए, बड़ा हल्ला किया । कोई नतीजा नहीं, बिलकुल ही चिकने घड़े—पानी की तमाम धार बेअसर, फिर भी वही मौत की खामोशी और एक नकली बेहोशी···!

जब कोई वीर समुद्र लाँघकर लंका-प्रवेश में समर्थ नहीं दिखाई दिया—तब डूबते को तिनके का सहारा, सबने जाम्बवन्त की ओर देखा । 'जाम्बवन्त की जय' के घोष से समुद्र की लहरें काँपने लगीं··· और 'बड़े भाई जिंदाबाद' के नारों से सारा प्लेटफार्म एकबारगी ही गूँज उठा !

सबने अब बड़े भाई की तरफ देखा, वे मुसकराए शरारत से—"बस-बस, पौने-आठ मत बजाओ अपनी-अपनी मनहूस शकल की चूनादानियों पर ! देख ली बस—तुम सबके औंधे दिमाग की कनस्तरी, अक्कल का सारा घी बह गया !"

मुझे हद से ज्यादा गुस्सा आ रहा था । सामने घड़ी में देखा—सिर्फ एक मिनट और पन्द्रह सेकण्ड बाकी थे ! मैंने झुँझलाकर कहा—"सबकी खोपड़ी औंधी और तुम्हारी सीधी, क्या फर्क है ?"

"आओ बताएँ फर्क—लेकिन, ठहरो ज़रा । मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ। रास्ता सीधा है और समुद्र-लंघन तुम्हें ही करना होगा, वत्स !" बड़े भाई मुसकराए।

जाम्बवन्त ने हनुमान से कहा—

जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा । नहिं तनु रहा प्रथम बल लेसा ।।
जबहिं त्रिबिक्रम भएउ खरारी । तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी ।।

माधव पंडित की तरफ भी कुछ लोगों की नज़र गई। अंगद बोले—

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा । जिय संसय कछु फिरती बारा ।।

जो भी हो, हम लोगों ने देखा कि बड़े भाई दो डिब्बों के बीच से छलाँग लगा रहे हैं। बस, हम लोग भी उनके पीछे हो लिए। वाक़ई खोपड़ी में फर्क निकला ! कोशिश करने पर, धींगामस्ती में एक खिड़की खुल ही तो गई। सब लोग खुशी से चिल्ला उठे—"बड़े भाई जिंदाबाद", 'डिब्बे वाले मुर्दाबाद' आदि नारे लगने लगे।

"आओ प्यारे भाई, आओ गले मिल लें !" कहकर चराटे जी उछले और गले से आ लगे। गाड़ी ने सीटी दी और सब लोगों ने मुझे वॉलीबॉल की तरह उठाकर उस कम्पार्टमेण्ट के गोल में फेंक दिया ! इस सुंदर डिब्बे में मुझे प्रसन्नता ही हुई—

सिंधुतीर एक भूधर सुंदर । कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर ।।

"कम्बख्त ! नींद खराब करदी···न जाने कौन-सी मनहूस स्टेशन है ?" झल्लाई-सी यह कोई जनानी आवाज थी। 'गोल' में गिरते-गिरते 'बॉल' शायद विरोधी पक्ष के 'गोलकीपर' से टकराई !

—और कहीं यह सर्पों की महतारी सुरसा न हो ? नहीं तो, फिर वही युगों-युगों पुराना चक्कर—

जोजन भरि तेहि बदनु पसारा । कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ।।
सोरह जोजन मुख तेहि ठएऊ । तुरत पवनसुत बत्तिस भएऊ ।।

"ग्वालियर है, ग्वालियर—मनहूसों के लिए मनहूस ! पड़ी रहो बाई आराम से, चुपचाप ।" देवकीनन्दन ने आदत से लाचार, एक डाँट पिला ही दी । कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला । सुरसा ने शायद सोचा—मजधार में आ जाओ ज़रा, तब फिर मज़ा चखाऊँ !

और ढेर भर धुआँ उगलती हुई गाड़ी चल दी···

"लौट के बुद्धू घर को मत आ जाना !" बड़े भाई, चराटे, देवकीनन्दन, माधव पंडित, महेन्द्र, शैलेन्द्र, श्याम, राही, नाथूराम भाई आदि का मिला-जुला नारा, दूर और धीमा होता हुआ, मेरे कानों में पड़ा । सबके रूमाल हिल रहे थे, वानर-सेना की पूँछों-से !

गाड़ी चली जा रही थी, धड़-धड़-धड़··· ।

अब मैंने खुलकर साँस ली और पूरे डिब्बे में नज़र दौड़ाई । एक तरफ सिर ही सिर और दूसरी तरफ पैर ही पैर चादरों से ढके हुए नज़र आ रहे थे जैसे कि किसी क़ब्रिस्तान में गाड़ने से पहले लाशें ढककर रख दी गई हों ! लेकिन सबकी साँसें ऊपर-नीचे उठ-गिर रही थीं, नाकें बज रही थीं—मेढ़कों-सी फूलती और खुर्र-खुर्र करती हुई ।

क्या करूँ फिर ? कुछ देर सोचने के बाद, एक बर्थ की चादर का खूँट, ज़रा खींचने का मैंने साहस किया । एक सिर चादर से बाहर आया—अरे, यह तो कोई पढ़ी-लिखी देवीजी हैं, कारण, उनके श्रीमुख

से भी कुछ बाहर आया—"वाट नॉनुसेंस...?" और निकला न निकला सिर, फिर अन्दर का अन्दर ही ।

थोड़ी देर तो मैं सकते की-सी हालत में खड़ा रहा, फिर मुझे आया ताव—इनके बाप की रेलगाड़ी है ? पसार टाँग सो रहे हैं, सबके सब अपनी जागीर में !

अरे, यह थी सुरसा नानी ! उसको कर दिया पानी-पानी और यह आई उसकी भी नानी···यह तो मेरी छाया देखकर ही, मुझे निगल जाना चाहती है—

गहइ छाँह एक सो न उड़ाई । एहि बिधि सदा गगनचर खाई ।
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा । तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा ।।

यह सब सोच चुकने के पश्चात्, मुझमें साहस का तेजी से संचार हुआ । मैंने एक दूसरी चादर जो खींची तो एक सारस-सी पतली टाँग, मेरे हाथ में आ गई ! घबड़ाकर मैंने हाथ खींच लिया । किन्तु सोनेवाला, बर्थ पर थोड़ा ऊपर को सिकुड़ गया और साथ ही, चादर के भीतर से एक तेज आवाज आई—"बदतमीज !"

"ओह शुक्रिया ! मैंने आपका नाम नहीं पूछा था ।" इतना कहकर, अपनी विजय पर मुसकराता हुआ मैं जैसे ही उस खाली जगह पर बैठने को हुआ, वैसे ही एक सिर चादर से बाहर निकला । मैंने साश्चर्य देखा, एक पहले जैसा ही सिर और···"शट अप यू नॉनसेंस !" उसके मुँह से निकलना था और हड़बड़ाकर, मेरा उस खाली जगह पर गिरना था ।

···और जब पवनसुत हनुमान्, भगवान राम का स्मरण करके, मच्छर का रूप धारण कर लंका में घुसने लगे—

मसक समान रूप कपि धरी । लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ॥
नाम लंकिनी एक निसिचरी । सो कह चलेसि मोहि निंदरी ॥

बस, फिर क्या था ? इतना उसके मुँह से निकलना था कि एक-एक चादर से, एक-एक सिर का निकलना था !

"बाप रे···!" मैंने अपने चारों ओर देखा और मेरे होश उड़ गए।

अब जाकर कहीं, मेरी समझ में आया जैसे कि ट्रेन के फायरमेन ने—मेरे दिमाग की बुझती हुई भट्टी में, ढेर-भर कोयले झोंक दिए हों ! हो न हो, यह किसी गर्ल्स्-कॉलेज का टूरिंग ग्रुप है । सिर मुड़ाते ही ओले, अब पड़े बेभाव के !

मैं इतना सोच ही सका था कि सारे के सारे सिर, भूतों की तरह, थोड़ा ऊपर उठे और एक समूह-गान मेरे कानों में झंकृत हो उठा—"गेट आउट यू ईडियट···यू ईडियट···यू···

"ओह, हाउ स्वीट ? से अगेन माई जूलियट···स्वीट-हार्ट जूलियट··· माई···!" मेरे मुँह से 'रेडीमेड-सा' यह सब-कुछ निकल ही तो गया। मैं भी आखिर कॉलिज में पढ़ा था और 'रोमियो एण्ड जूलियट' में, रोमियो का वह पार्ट अदा किया था कि रोमियो की आत्मा को जहाँ भी हो (स्वर्ग या नर्क में !) शान्ति अवश्य मिली होगी ।

"मर गए···!" देखता क्या हूँ कि एक लड़की ने उछलकर जंजीर खींच दी और उसे पकड़कर कम्बख्त, चमगादड़ की तरह लटक गई। मुझे याद आया कि ऐसे ही कभी रोमियो के लिए जूलियट, रेशम की डोर लटका दिया करती थी, किन्तु यह जंजीर ? यह तो फाँसी की रस्सी है, विषधर-सी फुफकारती जैसे कि डसने ही वाली हो !

—और तभी कुछ लड़कियाँ नागिन-सी बल खातीं, मेरी ओर झपटीं···
''गेट आउट, यू स्टुपिड···यू फुलिश···यू ईडियट !''

मैं भी मन ही मन जूलियट-जूलियट कहता हुआ पीछे हटा और दरवाजे तक खिसक आया ! गाड़ी धीमी पड़ रही थी, मैं कूदने की सोच रहा था—''जान बची···''कि इतने ही में, बेचारी रही-सही जान को लेने, साक्षात् यमदूत-सा गार्ड आ धमका ! मैं वहीं बैठ गया, जमीन पर ही ।

''जंजीर किसने खींची है ?'' गहरी नींद से जागे-से गार्ड की आँखें जल रही थीं और आवाज मोटे बाँस-सी खरखरा रही थी, जिसे ऊपर से नीचे तक एक साथ ही फाड़ दिया गया हो !

हवा निकाल दिए गुब्बारों-सी लड़कियाँ एक साथ पिचक गईं, और धमंडी मेंढक-सा मैं फूलकर 'हाइड्रोजन बॉम्ब' हो गया !

सहमी-सी लड़कियों ने एक क्षण, उसकी जलती आँखों में अपनी उँगलियों को सेंका और दूसरे ही क्षण, भाले-सी नोकीली उँगलियाँ—एक साथ, मेरी ओर उठ गईं !

''ओह, आई सी—आपने ? आप इस डिब्बे में क्या कर रहे हैं, इस वक्त ?'' गार्ड ने घूरकर मुझे देखा जैसे कि शिकारी को उसका शिकार नजर आ गया हो । या फिर कोई चूहा, शामत का मारा बेचारा—भूखी बिल्लियों के खूनी पंजों में फँस गया हो और सिर्फ बिल्लियाँ ही नहीं तो, पिंजड़े का मालिक भी मुँह फाड़े हो !

दुनियाँ की घड़ियाँ चाहे इस वक्त कुछ भी क्यों न बजा रही हों—मगर मेरे कलई-पुते 'सफेद चेहरे की क्लॉक' पर 'छोटी सुई' आठ के क़रीब थी और 'बड़ी' ठीक नौ पर !

फिर भी, मैंने सोचा—मुहब्बत करनेवाले बुजदिल नहीं हुआ करते। जूलियट के कूँचे से बेआबरू होकर निकलना, मेरी शान के खिलाफ था—पर बुरे फँसे थे आज !

मैं गार्ड के सामने घुटनों के बल बैठ ही तो गया—"माई डियर सर ! मुझपर रहम कीजिए—आई गॉड, मैं अपनी निहायत पाक मुहब्बत का वास्ता देकर कहता हूँ कि जूलियट डियर की खातिर ही…"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं रोमियो साहब ! आप भला क्यों गलत कहने लगे, मुहब्बत करनेवाले भी कहीं झूठ बोलते हैं ? आइए, आइए, मेरे साथ—वहाँ आपके लिए 'जूलियट डियर' और 'शू-लियट बियर' दोनों का बन्दोबस्त है, कम ऑन !" कहने के साथ ही उसने एक झटके से मुझे उठा लिया कि मेरे घुटने सीधे हो गए और मुझे लिए हुए वह अँधेरे में नीचे उतर गया।

हँसी की खिलखिलाहट और चूड़ियों की खनखनाहट सामने से आ रही थी; और पीछे अँधेरे के साये में कुछ चेहरे उभरते-से मुझे लगे—यह बड़े भाई, चराटे, देवकीनन्दन, माधव पंडित, महेन्द्र, शैलेन्द्र, श्याम, जगत, अरुण, राही, नाथूराम भाई वगैरह ही तो थे !

"गुड नाइट, रोमियो सर !" यही तो कह रहे थे शायद ! "रात का सफर…रोमियो और जूलियट…" मैं सोच रहा था।

"रोमियो तो जूलियट को कोस रहा था, रात के उस मनहूस सफर में…अब तुम किस के ग़म में, घुल-घुलकर हाथी हो रहे हो—सुल्तान के सुल्तान ?" चुटकी काटते हुए, बृज ने मेरे हाथ से डायरी के पन्ने छीन लिए।

जरा देर में ही, अचरज-भरा ठहाका सुनकर—जिसमें अचरज पहले है और ठहाका बाद में, जैसे कि गरजने से पूर्व बिजली चमकती है—मैं बृज की ओर घूमा। वह घूर-घूरकर, बार-बार—एक बार मुझे देखता है और दूसरी बार डायरी के पन्ने।

हैरत में पड़े बृज की शक्ल बस देखते ही बनती है। जिन्दा अजायबघर में रखने के लिए एक ही चीज है।

"अब तुम किस उधेड़बुन में दुलत्तियाँ मार रहे हो—बाराबंकी के गधों के सरताज?" मैंने उसकी पीठ पर एक मुक्का लगाया।

"देखो म्याँ, मुक्केबाजी तो करो मत। मैं कहीं 'जो लुई' बन गया तो तुम्हारा कचूमर ही निकल जाएगा! खैर छोड़ो भी, झगड़ा-फिसाद शरीफों का काम नहीं—मगर यार, यह गोरखधन्धा क्या है कि इन डायरी के पन्नों पर, हूबहू तुम्हारी लिखावट है?" और बृज की वैज्ञानिक निगाह का 'एटम बॉम्ब' मुझपर गिरना था कि मेरे 'रहस्य-हिरोशिमा' का ध्वंस होना था!

"ओहो, तो यह 'नीलिमा-जूलियट' की बर्थ-डे पार्टी की केक के लिए सेंटिड 'लँगड़ी शमा' है; इस मुहब्बत और इज्जत के साथ लौटी है!" उसकी नजर मेज पर थी—"और यह, मुहब्बत की सुप्रीम कोर्ट के फैसले की मिसल…!"

इतना ही वह कह सका और हम दोनों इतना हँसे कि हँसते-हँसते सड़क पर आ गए। हँसी इतनी अजीब और दिलचस्प थी कि सड़क चलनेवाले भी आ गए। उनसे न रहा गया, वे भी हँसने लगे, और इस चक्कर में कई पैदल साइकिलों से, साइकिलें ताँगों से और ताँगे मोटरों से भिड़ गए। फिर भी, हँसी बढ़ती ही गई और भीड़ जुड़ती चली गई कि दो ट्रैफिक मैन भी आ गए। उनकी भी समझ में जब कुछ नहीं

आया तो, उन्होंने कानून को थोड़ी देर के लिए खूँटी पर टाँग दिया और वे भी हँसने लगे !

इतने में ही, पास की कोतवाली का एक सब-इन्सपेक्टर मोटर साइकिल पर आ निकला। यह सब देखकर उसके होश उड़ गए। रुककर उसने बृज से पूछा—"क्या हुआ ?"

"देखते नहीं हो, आग लग गई है और क्या हुआ !" बृज ने गंभीरता से कहा।

"आग ?" इन्सपेक्टर ने चौंककर पूछा—"कहाँ, किधर ? लोग तो हँस रहे हैं !"

"रोने से बुझ जाएगी, क्या ?" उसने बिगड़कर कहा—"जल्दी 'फायर ब्रिगेड' बुलवाइए पहले, यह तहकीकात का वक्त नहीं है !"

"हाँ-हाँ, अभी लीजिए—मगर किसने लगाई है और किधर…?" इन्सपेक्टर ने पसीना निचोड़ते और मोटर साइकिल स्टार्ट करते हुए, एकदम पूछा।

"जूलियट ने साहब, जूलियट ने—रोमियो के यहाँ…!" और कम्बख्त ने सचमुच ही मेरे सीने पर उँगली रख दी।

घर्र-घर्र-घर्र…इन्सपेक्टर बेचारा तब तक 'फायर ब्रिगेड' की तलाश में आगे बढ़ गया था।

"आदाब, रोमियो सर !" बृज ने मेरी ओर हुप्टता से देखा और एक कहकहा लगाया।

नंगी लाश

कॉफी हाउस पर अरुण का साथ छोड़ने के बाद, चौराहे पर श्याम से अलग होकर—जब मैं अपने मकान के रास्ते का ढाल उतरा, तब मेरे कानों में पुलिस चौकी के ग्यारह के घंटे खड़खड़ाए। घर पहुँचकर, हाथ-मुँह धोकर थोड़ी-सी पेट-पूजा की। यह सब करके अपने कमरे में आकर बैठा, तब फ़ुरसत में कुछ सोचने को मिला। दिमाग़ में एक शगूफा उठा, उसने एक गुल खिलाया—सोचा, आज की रात कुछ लिखा जाए; आज की रात, क़त्ल की रात ही सही!

फिर याद आया, बहुत दिनों से आलोचक मित्र परेशान कर रहे हैं; फब्तियाँ कसा करते हैं—"कुछ नया नहीं लिखते, पुरानी जमा-पूँजी पर ही गुलछर्रे उड़ा रहे हो!"

इतना ही काफी नहीं तो ऊपर से ये 'रंगे सियार' दहाड़ते भी हैं—

"दोस्त, अफसोस है कि तुम्हारी लेखनी अवरुद्ध होगई है!" एक कहता।

"यार, तुम्हारी क़लम टूटने का हमें वाक़ई सख्त अफसोस है। हमें तुमसे दिली हमदर्दी है—देखते हो न, हमारे ये गरमागरम आँसू!" थूक के आँसू पोतकर दूसरा कहता।

"वाह उस्ताद, तुम्हारी तो साहित्यिक मौत ही हो गई और तुमने हमें मातमपुरसी तक का मौका नहीं दिया?" तीसरा आँसू निकालने के

लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाता, लेकिन जैसे हैंड-पाइप के जरिए कुएँ का पानी निकालने की एकदम नाकामयाब कोशिश हो । पानी हो तब न, पानी तो पानीदार की आँखों में होता है !

—और फिर मैं, मगर के इन आँसुओं से अपरिचित भी नहीं हूँ !

"भाई मेरे !" मैं तब, मुँह की चाशनी में पगे हुए शब्द-पकवान निकालता।

"हाँ, उस्ताद ?"

"कहो यार ?"

"क्या बात है, मित्र ?"

मेरे ये हमदर्द एक साथ, मेरे पकवानों की आशा की जिज्ञासा की चाशनी में उलझते-लिपटते हुए पूछ बैठते ।

"चुल्लूभर पानी मिल सकता है क्या ? कहो उस्ताद, क्यों यार, बोलो मित्र ?" अपने पकवानों पर चाशनी की एक पर्त और चढ़ाते हुए, ऐसे अवसर पर मैंने पूछा ।

"क्यों मगर ?" एक साथ सब ताज्जुब से चिल्ला उठे ।

"इसलिए कि"—मैंने चीखकर कहा—"तुम सब-के-सब उसमें जाकर डूब मरो !"

किंतु, इसके साथ ही अपने ड्राइंग रूम के सोफे पर बैठा हुआ मैं यह सोचकर काँप गया कि साहित्य की अविरल-वाहिनी गंगा के जिस भी पोखर में ये डूबेंगे, उसको दूषित करेंगे !

"और तब क्या होगा ?" मेरी आत्मा कोड़े खाए हुए भूखे सिंह की

तरह तड़प उठी–परन्तु, नहीं ! घायल सिंह मौत से कम भयानक नहीं होता। मैंने दाँतों पर दाँत रगड़ दिए। आग सुलग उठी और इन दहकते हुए शोलों में मुझे साहित्य-जगत् के छिद्रान्वेषी तथा उनके बदबूदार अंडे जलते, नष्ट होते हुए प्रतीत हुए। योगिराज के मायावी मुँह की 'लेबोरेटरी' में अर्जुन ने जैसे गीता के संपूर्ण ज्ञान का 'प्रेक्टीकल' देख लिया हो !

अब फिर वही शगूफा मेरे हृदय के श्मशान में सर्पिणी-सा दहकता हुआ, एक बड़ा-सा प्रश्नचिन्ह बनकर खड़ा हो गया कि आखिर मैं लिखूँ तो क्या लिखूँ ?

टन··· ! मैं चौंका, जैसे किसी ने मेरी आत्मा को प्रताड़ना दी हो, मेरे हृदय और मस्तिष्क को एक साथ झकझोर डाला हो। कॉलेज की टॉवर क्लॉक का पेंडुलम मेरी प्रसुप्त भावना पर हथौड़े की तरह पड़ा और मैं तिलमिला उठा–कुछ लिखना है आज की रात, क़त्ल की रात !

—और मैं रात की स्याही को चीरता-तैरता, अपने घर से निकल ही पड़ा। चौराहे पर आया तो एक खाली ताँगा दिखाई दिया। जेब में हाथ डाला, तो वह फकीर की तरह दुतकारा हुआ बाहर नहीं आया, लक्ष्मी ने हाथ थाम लिया था ! बस फिर क्या था, मैं उछलकर ताँगे में जा बैठा और मैंने अपनी दोनों टाँगों को पूरे ताँगे में इस प्रकार फैला दिया जैसे हिटलर ने कुछ समय के लिए सारे संसार पर अपने नाजीवाद का पंजा चौड़ा करने का यत्न किया हो !

मेरे इस हिटलरी आतंक से घोड़ा चौंका, हिनहिनाया। ताँगा एकदम पीछे को झुक गया और ताँगेवाला कुछ सोता, कुछ जागता, उछलकर बैठ गया, जैसे जर्मन फौजों के आकस्मिक धावे से पोलैंड के होश फाख्ता हुए मालूम हों !

और मेरी बीबी की लाश, कफन की मोहताज पड़ी होगी ! जब जिन्दा थी तब रोजों पर जिंदगी गुजारी; मगर अब, जब मर गई, तब उसकी लाश के बराबर कफन भी नसीब न हो—बस, यहीं मेरे सब्र ने भी अपना दम तोड़ दिया, बाबू !"

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही वह पागल की तरह भागा और रात के अँधेरे में कहीं ओझल हो गया। समझदार घोड़ा भी धीरे-धीरे खाली ताँगे को लेकर, उसी दिशा में चल दिया–संकट के सच्चे साथी की तरह !

पुल पर अकेले खड़े-खड़े मैंने एक बार सोचा—कहानी का प्लॉट ! मैं ऊपर से नीचे तक काँप गया। उफ, कितनी भयानक है आज की रात–कत्ल की रात !

तभी, एक तेज सीटी की आवाज ने मुझे चौंका दिया। पुल के नीचे कोई ट्रेन आ रही थी और उसके छोड़ते हुए धुएँ में मुझे महसूस-सा हुआ कि कोई नंगी लाश चली जा रही है !

तरह तड़प उठी—परन्तु, नहीं ! घायल सिंह मौत से कम भयानक नहीं होता। मैंने दाँतों पर दाँत रगड़ दिए। आग सुलग उठी और इन दहकते हुए शोलों में मुझे साहित्य-जगत् के छिद्रान्वेषी तथा उनके बदबूदार अंडे जलते, नष्ट होते हुए प्रतीत हुए। योगिराज के मायावी मुँह की 'लेबोरेटरी' में अर्जुन ने जैसे गीता के सम्पूर्ण ज्ञान का 'प्रेक्टीकल' देख लिया हो !

अब फिर वही शगूफा मेरे हृदय के श्मशान में सप्तर्षि-सा दहकता हुआ, एक बड़ा-सा प्रश्नचिन्ह बनकर खड़ा हो गया कि आखिर मैं लिखूँ तो क्या लिखूँ ?

टन··· ! मैं चौंका, जैसे किसी ने मेरी आत्मा को प्रताड़ना दी हो, मेरे हृदय और मस्तिष्क को एक साथ झकझोर डाला हो। कॉलेज की टॉवर क्लॉक का पेंडुलम मेरी प्रसुप्त भावना पर हथौड़े की तरह पड़ा और मैं तिलमिला उठा—कुछ लिखना है आज की रात, क़त्ल की रात !

—और मैं रात की स्याही को चीरता-तैरता, अपने घर से निकल ही पड़ा। चौराहे पर आया तो एक खाली ताँगा दिखाई दिया। जेब में हाथ डाला, तो वह फकीर की तरह दुतकारा हुआ बाहर नहीं आया, लक्ष्मी ने हाथ थाम लिया था ! बस फिर क्या था, मैं उछलकर ताँगे में जा बैठा और मैंने अपनी दोनों टाँगों को पूरे ताँगे में इस प्रकार फैला दिया जैसे हिटलर ने कुछ समय के लिए सारे संसार पर अपने नाजीवाद का पंजा चौड़ा करने का यत्न किया हो !

मेरे इस हिटलरी आतंक से घोड़ा चौंका, हिनहिनाया। ताँगा एकदम पीछे को झुक गया और ताँगेवाला कुछ सोता, कुछ जागता, उछलकर बैठ गया, जैसे जर्मन फौजों के आकस्मिक धावे से पोलैंड के होश फाख्ता हुआ चाहते हों !

और मेरी बीवी की लाश, कफन की मोहताज पड़ी होगी! जब जिंदा थी तब रोज़ों पर जिंदगी गुजारी; मगर अब, जब मर गई, तब उसकी लाश के बराबर कफन भी नसीब न हो---बस, यहीं मेरे सब्र ने भी अपना दम तोड़ दिया, बाबू!"

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही वह पागल की तरह भागा और रात के अँधेरे में कहीं ओझल हो गया। समझदार घोड़ा भी धीरे-धीरे खाली ताँगे को लेकर, उसी दिशा में चल दिया--संकट के सच्चे साथी की तरह!

पुल पर अकेले खड़े-खड़े मैंने एक बार सोचा---कहानी का प्लॉट! मैं ऊपर से नीचे तक काँप गया। उफ, कितनी भयानक है आज की रात--कत्ल की रात!

तभी, एक तेज़ सीटी की आवाज़ ने मुझे चौंका दिया। पुल के नीचे कोई ट्रेन आ रही थी और उसके लौटते हुए धुएँ में मुझे महसूस-सा हुआ कि कोई नंगी लाश चली जा रही है!

और पहिये घूम रहे थे

हैं जिनमें उसकी शंका का, उसके प्रश्न का, मौन उत्तर है ! उसे महसूस हुआ कि जैसे दया का, मनुष्यता का पलड़ा जमीन से लगा है; और दूसरा पलड़ा आकाश में उठ गया है, जिसमें दुनियाँ का तमाम सोना-चाँदी भरा हुआ है !

—उसके मजबूत पैर चलने लगे थे और रिक्शे के पहिये तेजी से घूम रहे थे !

कोहरा हलके-हलके गिर रहा है। रिक्शेवाले की आँखों में एक क्षणिक, क्षीण चमक आई और चली गई। रूमाल में उसने आँखों का कोहरा समेट लिया—पर, सामनेवाले के हृदय में कुछ चुभकर रह गया !

पटियाला हाउस ! छोटे शिमले के बँगलों की कतारें साथ भागती हुई पीछे रह गई हैं। रिक्शा अब माल रोड पर है। बाजार की बत्तियाँ जल गई हैं। इस रोशनी में नई सोसाइटी की जगमगाहट और फैशनों की नुमाइश, बेहिसाब शरीरों में करवटें ले रही है—फिल्मी कलाकारों के मेक-अप-से, पाउडर, लिपस्टिक और नई सभ्यता के नए से नए प्रसाधनों से युक्त चेहरे, नुमाइशी ही तो हैं !

इनके कपड़े उजले हैं, ऊपर से चमकदार; किन्तु ऊपर से जो मैले हैं, चीथड़ों में—मन उनका भीतर से उतना ही उजला है !

इस चलती-फिरती नुमाइश का हर चेहरा, फैशन का 'लेटेस्ट मॉडल' है ! इनकी हर चीज नकली है—इनका चेहरा नकली है, इनकी चाल-ढाल नकली है, इनकी बोल-चाल नकली है; और शायद इनका शरीर, इनकी आत्मा भी नकली हो गई है ! जीवन की कृत्रिमता ही जैसे अब इनका जीवन है, यह बनावट ही इनकी खुशी है—यही इनकी सभ्यता और शिष्टाचार है !

और पहिये घूम रहे थे

हैं जिनमें उसकी शंका का, उसके प्रश्न का, मौन उत्तर है ! उसे महसूस हुआ कि जैसे दया का, मनुष्यता का पलड़ा जमीन से लगा है; और दूसरा पलड़ा आकाश में उठ गया है, जिसमें दुनियाँ का तमाम सोना-चाँदी भरा हुआ है !

—उसके मजबूत पैर चलने लगे थे और रिक्शे के पहिये तेजी से घूम रहे थे !

कोहरा हलके-हलके गिर रहा है। रिक्शेवाले की आँखों में एक क्षणिक, क्षीण चमक आई और चली गई। रूमाल में उसने आँखों का कोहरा समेट लिया—पर, समझनेवाले के हृदय में कुछ चुभकर रह गया !

पटियाला हाउस ! छोटे शिमले के बँगलों की कतारें साथ भागती हुई पीछे रह गई हैं। रिक्शा अब माल रोड पर है। बाजार की बत्तियाँ जल गई हैं। इस रोशनी में नई सोसाइटी की जगमगाहट और फैशनों की नुमाइश, बेहिसाब शरीरों में करवटें ले रही है—फिल्मी कलाकारों के मेक-अप-से, पाउडर, लिपस्टिक और नई सभ्यता के नए से नए प्रसाधनों से युक्त चेहरे, नुमाइशी ही तो हैं !

इनके कपड़े उजले हैं, ऊपर से चमकदार; किन्तु ऊपर से जो मैले हैं, चीथड़ों में—मन उनका भीतर से उतना ही उजला है !

इस चलती-फिरती नुमाइश का हर चेहरा, फैशन का 'लेटेस्ट मॉडेल' है ! इनकी हर चीज नकली है—इनका चेहरा नकली है, इनकी चाल-ढाल नकली है, इनकी बोल-चाल नकली है; और शायद इनका शरीर, इनकी आत्मा भी नकली हो गई है ! जीवन की कृत्रिमता ही जैसे अब इनका जीवन है, यह बनावट ही इनकी खुशी है—यही इनकी सभ्यता और शिष्टाचार है !

सड़क के दोनों ओर, सभ्यता की इस सड़ी-गली लाश को कन्धों पर उठाए हुए, रंग-बिरंगे जोड़े चल रहे हैं, चेहरे मुसकरा रहे हैं! बिजली का कोई बटन दबा देने से तो ये चल-फिर नहीं रहे हैं? आज के यंत्र-युग में यह कल्पना असम्भव भी नहीं है और ऐसे बने-बनाए, रंगे-पुते, चेहरे-शरीर, फैशन की चीजों की तरह बाजारों में ही मिलने लग जाएँ—कल के स्पुतनिक-युग में यह भी सम्भव है!

—और रिक्शे के पहिये पृथ्वी-तल पर, नियमित गति से अभ्यस्त की भाँति घूम रहे थे!

डेवीकोज से गुजरते-गुजरते अंगरेजी गाने की धुन सुनकर, रिक्शेवाले ने भी गुनगुनाना शुरू कर दिया है। रिक्शे में बैठे हुए वृद्ध ने कान देकर सुना; वह अपनी धुन में खोया-खोया-सा है—

My candle burns at both ends,
It will not last the night,
But oh, my foes and oh, my friends—
It gives a lovely light.

इसका भाव कुछ ऐसा है—जिन्दगी की शमा जल रही, रात की गोद में गल रही! मेरे दोस्त-दुश्मन, सुनो, खुशनुमा रोशनी खिल रही!

वृद्ध ने अनुभव किया कि कुछ जो चुभ गया था, कसक उठा है! मस्तिष्क यदि उनके साथ विश्वासघात नहीं कर रहा तो, यह उनके जीवन की एक रहस्यात्मक अनुभूति है। मस्तिष्क-यंत्र अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ गतिवान है—कैसा है यह रिक्शेवाला, कौन हो सकता है भला? कितना दर्द-भरा गीत है और उससे भी अधिक गला! किसी भले घर का

होनहार···यंत्र की गति-विधि में गतिरोध उत्पन्न हो गया--हो न हो, इसके जीवन के साथ-साथ किसी रहस्य की सघन छाया चल रही है !

—और रिक्शे के पहिये घरर-घर्र की अस्वाभाविक ध्वनि करते हुए घूम रहे थे !

हठात्, एक कड़े धक्के ने उनकी अशान्त तन्मयता को एकबारगी झकझोर डाला और वे आप-से-आप पीछे की ओर झूल-से गए !

रिक्शेवाले ने अविलम्ब ही रिक्शे को सँभाल लिया । याचना में उसने दया की भीख माँगते हुए कहा—"क्षमा कीजिए बाबूजी, घुमाव पर मैं न जान सका कि चढ़ाव शुरू हो गया है और इसीलिए मेरे पैर यकायक लड़खड़ा गए ! आपके तो कहीं चोट नहीं आई ?"

कोहरा अधिक घना हो गया है । वृद्ध ने रिक्शे से नीचे आकर, उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए भरे गले से कहा—"तुम अपना पैर तो देखो, बेटे ! कैसा लोहू-लुहान हो गया है ?" आँखों में उमड़ती व्यथा को आँखों ही आँखों में पी लेने का निष्फल-सा प्रयास करते हुए, अनुभवी वृद्ध ने समझाया—"इन ऊँची-नीची गहराइयों में तुम चोट खा ही गए । जिन्दगी के उतार-चढ़ाव के इस लम्बे सफर में भी, क़दम-क़दम पर तुम्हें यह न भूल जाना चाहिए कि एक क़दम तुम्हें कहीं, और दूसरा कहीं से कहीं ले जा सकता है ! रही मेरी चोट और तुम्हारा दोष—सो मेरा क्या है ? चोट तो मैंने अपने होश में खाई नहीं और दोष तुम्हारा उतना ही है जितना कि मेरा ! मैं भी अपना फर्ज भूल गया था, बेटे, कि चढ़ाव शुरू हो गया है और मुझे रिक्शा छोड़ देना चाहिए ?"

कोहरा अब नन्हीं बूँदों में बदल रहा है । वृद्ध की आँखों में अनन्त लहरों की हिलोर है—अश्रु-निर्झर बह निकला ।···और रिक्शेवाला ?

उस हिमानी प्रदेश में भी, उसके चेहरे से श्रम-बिन्दु ढुलके पड़ रहे हैं। वह अब अपने को न रोक सका—युग-कारा को तोड़कर अश्रु बन्धनमुक्त हो गए। नन्हीं बूँदें, आँसुओं से मिलकर, उसके कोट और शरीर को एक साथ ही सर्द तथा गीला बना रही हैं।

हवा के तीखे थपेड़े आ-आकर उसके कोट के चीथड़ों में से, हड्डियों पर चिपका हुआ रहा-सहा माँस नोच-नोच रहे हैं! बरस चुकने के बाद, बादल हलके हो जाते हैं। उसने अपनी दुर्बलता को आड़ देते हुए कहा, "बैठिए न बाबूजी, मैं अभी आपको चौक पहुँचाए देता हूँ—और तेज चलूँगा।"

"नहीं, नहीं, बारिश शुरू हो गई है। पानी तेजी पकड़ रहा है, अभी और तेज होगा। बेहतर है कि तुम रिक्शे को उस पेड़ की घनी छाया में ले लो।" सामने के पेड़ की ओर इशारा करते हुए, उन्होंने कहा।

आगे-आगे वे और पीछे-पीछे रिक्शा लिए हुए रिक्शेवाला पेड़ के नीचे आ गए। उसकी मोटी-मोटी शाखों और घनी पत्तियों के साये में दोनों बैठ गए। बिजली रह-रहकर चमकती है और बादल गरज उठते हैं। चारों ओर जैसे प्रकृति के बंजारों ने अपने काले-काले खीमे गाड़ दिए हैं और तमाम रोशनियाँ बुझा दी हैं!

फिर बिजली चमकी—वृद्ध ने देखा कि रिक्शेवाला अपना सिर अपने पैरों में दिए बैठा है। उस रहस्यात्मक युवक से, जो अभी भी उनके लिए एक विचित्र प्रश्न-चिह्न बना हुआ है, स्नेह से उन्होंने पूछा—"बेटे, मेरा एक कहा मानोगे।"

"जी हाँ, क्यों नहीं! आप कहिए।" सिर उठाकर कुतूहल से उसने पूछा।

"तुम्हें देखकर लगा कि जैसे तुम्हारी ज़िंदगी के पीछे कोई गहरा राज़ है ! परेशानी जैसे घुन बनकर तुम्हारे साथ लग गई है । यह सब क्या है, क्यों है—बस, मैं यही जानना चाहता हूँ । मुझे अपनी तकलीफ, अपनी ज़िंदगी के हालात बताने में तुम्हें कोई एतराज़ तो नहीं…?" उनका गला रुकने-सा लगा । अँधेरा होने से वह, उनके चेहरे के भाव नहीं पढ़ सका !

"नहीं जी, बिलकुल नहीं ! मुझे भला क्या एतराज हो सकता है ? आज तक जो भी मिला, उसने शरीर पर घाव ही किए हैं—उन घावों को यदि कोई देखना चाहे तो मेरे भाग्य !" उसने कहा और बिना किसी हाँ-ना के, अपनी दास्तान सुनानी शुरू की—

"पूरा नाम तो मेरा निशीथनाथ है, किन्तु यह कॉलिज के रजिस्टरों तक ही सीमित था । प्यार से सब मुझे 'निशी' कहते थे । मेरे पिताजी ग्वालियर हाईकोर्ट के सीनियर-मोस्ट वकील थे, हाईकोर्ट जज के उनके चान्सेज़ बहुत अच्छे थे…"ज़रा रुककर उसने कहा—"और मैं, अपने माता-पिता का इकलौता बेटा ठहरा । 'नहीं' मेरे लिए बना ही नहीं था, 'अभाव' का मेरे जीवन में नितान्त अभाव था ! पिताजी प्रायः कहा करते—'निशी बेटा माँगे तो मैं उसके लिए आकाश का चाँद भी तुड़वा मँगाऊँ ।' पर माँ, तुरन्त उसका प्रतिवाद करती—'न, नहा मेरी आँखों का तारा है, घर का उजियारा है और चाँद ? छिः वह तो कलुषित है !'

सच बात तो यह थी कि इस इकलौती उच्छृंखलता के दूषित-कलुषित वायुमंडल से परे, धरती पर गिरकर मैं धरती के गीत ही गाता रहा ! चाँद तोड़ने-तुड़वाने का न तो मैंने कभी प्रयास किया और न आकाश में उड़ान भरने का ही स्वप्न देखा ! पिताजी के मिलनेवाले बहुधा कहा करते—'बाप वकील है और बेटा जज बनेगा; बड़े बाप का होनहार बेटा । पूत के पाँव तो पालने में ही दीख रहे हैं !'

सिसकती-सी दास्तान ने नया मोड़ लिया—"जब मैंने होश सँभाला"—उसने आगे कहा—"मेरे सिर पर केवल ममतामयी माँ का साया था। उसी की शीतल छाया के नीचे मेरा जीवन-बीज, जो उन्होंने बोया था, आज यह वृक्ष बन सका है! दुर्भाग्य के एक दिन, उन्होंने मुझे बताया—'निशी, मेरे बेटे! तेरे पिताजी बड़े ही विचित्र स्वभाव के थे। दर्शन का अध्ययन और चिन्तन उनका पुराना शौक था। बिना कहे-सुने महीनों के लिए, यहाँ-वहाँ चल देना उनका स्वभाव बन गया था, और हर बार वे किसी पहाड़ पर ही जाते थे—मसूरी···आबू···नैनीताल···अल्मोड़ा···काश्मीर और यहाँ तक कि स्विटजरलैण्ड—देश के बाहर भी। ···और एक मनहूस सुबह बोले, 'क्या जिंदगी है, बँधी हुई जैसे कठपुतली के धागों से नाच रही हो! कोई फर्क नहीं, कोई तब्दीली नहीं—ओफ, जिंदगी न हुई मशीन हो गई!'···और बस, फल काटते-काटते बड़ा चाकू अपनी जाँघ में दे लिया—पूरा का पूरा! खून का फव्वारा छूट पड़ा···बड़े जोर से क़हक़हा लगाया, और चिल्लाए—'फर्क, तब्दीली···चेंज···हा-हा-हा!' और कुरसी से गिरकर बेहोश हो गए।

"पुलिस ने खुदकशी के रजिस्टर में, उनका बयान लिखा—'खुदकशी का मेरा कोई इरादा न था! वरना जनाब, गले की जगह जाँघ पर चाकू चलाता? असलियत दरअसल यह है कि जिंदगी के बासीपन से मैं बुरी तरह परेशान आ गया था; और फिर, रोज-रोज के उस बासीपन के स्वाद में भी तो राई-रत्ती फर्क न पड़ता था। लिहाजा मुँह का जायका बदलने की गरज से मैंने इस 'जहरीली शराब' का भी 'एक डोज' गले के नीचे उतारा! कड़वा लगा, नशा आया और मजा भी। बस, फर्क सिर्फ इतना है हुजूर—इसी को आप खुदकशी कह सकते हैं और मैं जिंदगी!'

"···और फिर, एक रात अस्पताल के अपने वार्ड से अंधकार की कालिमा में वे कहीं ओझल हो गए! उन्हें खोज निकालने की हर सम्भव कोशिश की गई—किन्तु, उनका कहीं सुराग़ न मिला तो आज दिन

तक न मिल सका । अपनी-अपनी बुद्धि का अपने जैसा प्रयोग प्रत्येक ने किया—जितने पंच, उतने प्रपंच ! जितने व्यक्ति, उतनी ही अभिव्यक्ति ! मेरा सौभाग्य-सूर्य भी अस्ताचल की ओर बढ़ चला । फिर भी माताजी ने उन विषम परिस्थितियों में, एक बार खाकर—आधा-पेट रहकर, जैसे-तैसे मुझे पढ़ाया-लिखाया !"

घटना-चक्र ने स्मृति-पटल पर अँगड़ाई ली । रिक्शेवाला थोड़ा रुका; उसने देखा कि अपने दुःख से वह जितना दुखी है, उससे अधिक ही कोई और भी व्यथित है ! उसके घावों की जलन, उससे ज्यादा वह आदमी शायद महसूस कर रहा है जो उसकी दर्द की कहानी सुनने बैठा है ! उसने अब गौर किया कि बाँध के छेदों से जो पानी रिस-रिसकर निकल रहा था, उसी ने बाँध फट पड़ने के कारण, बाढ़ का जोर पकड़ लिया है !

देखा-अनदेखा-सा करते हुए, रिक्शेवाले ने कहा—"आप बहुत दुःखी हो रहे हैं, बाबूजी ! मेरे दुर्भाग्य की कहानी सुनकर, पत्थर भी पिघल जाते हैं !! जमीन-आसमान सब सिर धुनते हैं···" इसी समय कड़-कड़-कड़, जोर से बिजली कड़की, तड़की और लगा कि जमीन फाड़कर घुस गई··· तेज रोशनी-सी हुई, पानी और भी तेज हो गया—पानी ही पानी, जैसे आज ही प्रलय की घड़ी आ गई है··· !

दोनों काँप-से गए । एक-दूसरे का कंपन दोनों ने महसूस किया हो या न किया हो; किन्तु अपने कन्धे पर एक अनुभवी हाथ का सहारा पाकर वह कुछ आश्वस्त हुआ, बोला—"हाँ तो, मैं कह रहा था कि इसीलिए मैं अपनी राम-कहानी किसी को सुनाता नहीं, और फिर इतनी फुरसत भी किसे है ?···पिताजी की खोज में जब सब-कुछ खोकर भी हम उन्हें न पा सके, तब माँ के विश्वास की रक्षा के लिए—'हो न हो, तेरे पिताजी कभी न कभी किसी हिल-स्टेशन पर आ मिलेंगे'—हम

बची-खुची पूँजी समेट-बटोरकर हमेशा-हमेशा के लिए ग्वालियर छोड़कर चल दिए। मेरे अध्ययन ने, जो अभी तक किसी प्रकार अपनी उखड़ती-साँसें गिन रहा था, दम तोड़ दिया!

…और रेल भागी जा रही थी, आगे और आगे ही…सब कुछ छूटता जा रहा था, पीछे और पीछे ही—शायद अभिपन्न जीवन भी, शायद नहीं! कई एक पहाड़ी प्रदेशों में फिरते-फिराते, पत्थरों से टकराते हुए—अन्त में हमें शिमले की सात हज़ार फीट ऊँची चोटी 'समर-हिल' दिखाई दी। आठ हज़ार फीट ऊँचे, मशोबरे के शिखर पर लहलहाते सेव के वृक्ष भी नजर आए और हम यहाँ आ लगे! जो कुछ गाँठ में बाकी था, धीरे-धीरे वह भी सब चुक गया। नौबत अब यहाँ तक आ पहुँची कि राजमहल की राजमाता कपड़े सिए, चक्की चलाए, और…और ढाबों में दूसरों की जूठन धोए।"

एक आह और एक सिसकी, लगभग एक साथ ही निकली—"क्या तुम्हारी शादी नहीं हुई?" एक काँपता-सा प्रश्न, हवा की सरसराहट में गूँजकर खो गया।

"नहीं जी…जी, हुई थी! माँ ने बहुत सिर मारा, ज़िद पकड़ी, किन्तु गौना नहीं हुआ। दो का ही पेट खाली था—और तीसरे को बुलाकर ग़रीबी में आटा गीला कराने से फायदा? मगर, माँ के आँसुओं के थमने के लिए भी तो कोई सहारा, कोई दामन चाहिए—अब की बरसात बीतते ही, ज़रूर गौना करा लाऊँगा! वह जो सामने झाऊ के झाड़ों का झुरमुट है, वहीं एक छोटा गाँव-सा है—उसी में…।" स्वर सहम-सा गया।

—"और मैं?" उसने थोड़ा-सा अटककर कहा—"बाबूजी, मैं भी देश के हज़ारों नौजवानों, शिक्षित बेकारों में से एक था, जिन्हें चाहने पर भी कुछ काम नहीं मिलता। आराम हराम है—चीख-चीखकर भी

नहीं ! मेरी आत्मा सोई-सी जा रही थी, मेरा स्वाभिमान मरा-सा जा रहा था—और तब, मैंने भी शिमले की ढलकानों में रिक्शा सँभाला। दिन ढले तक, जीवन का यह गति-क्रम चलता रहता है । जिंदगी का यह बेसुरा राग, साँसों के टूटे सितार पर—रिक्शे के पहियों की चीं-चूँ के साथ रोता-बजता-सा रहता है···और जब रात, अभिशाप की काली छाया-सी मँडराती आती है, तब हम दोनों माँ-बेटे लोअर बाजार के उस कीड़े-मकोड़े जीवन में भाग्यहीनों की अपनी उजड़ी बस्ती बसाया करते हैं ! मिट-मिटकर बनने की नाकामयाब कोशिश करते हैं, मर-मरकर जीने की, बस इतना ही, यही कुछ है···मेरी पूरी-अधूरी-सी कहानी !"

कोहरा छँट गया है ! आकाश कुहरा-सा साफ—बारिश थम चुकी है। दूर बँगलों की कतारें, धुली-सी झिलमिला रही हैं। रात खामोश है, आकाश में तारे—काली साड़ी में गमगीन किसी अभागिन के आँसू-से डबडबा आए हैं। दर्द की उस कसकन से, तपन से, शायद धरती का आँचल भी भींग गया है।

रिक्शा आगे बढ़ चला—अब एक रिक्शे की हलकान अनुभव कर रहा है और दूसरा उसी का भारीपन ! रिक्शा तब चौक में आ लगा।

रिक्शे से नीचे आकर, वृद्ध ने पैसे निकालने के बहाने शायद—बिजली के खंभे की ओर मुँह फेरकर, थोड़ा बढ़ते हुए आँसुओं को सुखाने का निष्फल-सा प्रयास किया । वर्षा की नन्हीं-नन्हीं बूँदें, किन्तु रुकते-रुकते जोर पकड़ती हैं। पीछे कुछ आवाज सुनकर वे मुड़े—रिक्शे के लौटते हुए पहिये घूम रहे थे।

अपने चारों ओर जहाँ वे खड़े हैं, छलछलाई आँखों से उन्होंने देखा—स्मृति की उलझी रेखाओं में सुलझते हुए कुछ चेहरे उभरते आए,—उन्हें लगा कि जैसे पाकर कुछ खो-सा दिया है ! उस धुँधलके में सिर्फ एक

तख्ती ही, जो बहुत पुरानी है, बिजली के खम्भे से लटकती नज़र आ रही है, धुँधला-सा जिस पर लिखा है—'स्कैंडिल-प्वाइंट !' धुँधला पड़ गया है या दिखाई ही दिया, कौन जाने ?

उस रात शिमले में पहली बार काली आँधी आई, अन्धड़ चला और शिमला एक रात में कुछ-का-कुछ हो गया ! कहीं दूर···चार के घण्टे खड़खड़ा रहे हैं और बाज़ारू कुत्ते जो आधी रात के बाद भी शामत के मारे रोते-पीटते, सोनेवालों की नींद हराम कर रहे हैं !!

वृद्ध ने भी चारपाई पर करवटें बदलते हुए महसूस किया कि आँखों में आज नींद नहीं है। वे ही परिचित-से चेहरे, फिर-फिर उभरने लगे··· एक साफ चेहरा सामने आया, प्रौढ़ और गंभीर नारी का, जैसे उलहना दे रहा हो—'तुमने अपने खून को पहचानने में भी देर की !' वे उठकर अपनी चारपाई पर बैठ गए···एक और चेहरा सामने से निकल गया, उन्होंने पहचाना—यह तो वही रिक्शेवाला है ! वह नहीं, उसकी आँखें बोलती-सी लगीं—'मैं ही वह बदक़िस्मत हूँ !'

सामने दूर पर झाऊ के पेड़, रात के उस मातमी अँधेरे में, प्रेत की छाया-से सिर उठाए खड़े हैं। रह-रहकर वे खड़खड़ाते हैं, शायद ताली बजा-बजाकर हँस उठते है—किसी की बेबसी पर ! इन्सान को इन्सान से हमदर्दी न रही, फिर वे ही भला क्यों उसकी मुश्किल में शामिल हों—उसके हमदर्द, उसके हमसफर बनें ?

···और तभी उन्हें, झाऊ के झुरमुटों के पीछे से आती हुई शहनाई की आवाज़ सुनाई दी। धीरे-धीरे एक और चेहरा उभरता आया···सुंदर, सलोना और निर्दोष जैसे कालिमारहित कोई पूर्णिमा का चाँद उदय

हुआ हो···शबनम की कुछ बूँदें-सी गिरीं और फिर वह लीन हो गया—केवल उन बूँदों में डूबी कुछ कुँआरी शबनमी सिसकियाँ, वहाँ के सारे वायुमंडल में सिसकती-सी लगीं !

साँस लेने में घुटन-सी महसूस होने लगी; वे बाहर बालकनी में निकल आए। एक अजीबोगरीब कशमकश का दौरान है, न मालूम दरिया में तूफान की क्या रफ्तार है और सागर में कितनी बार ज्वार-भाटा आया? सामने एक तेज तारा चमचमा रहा है—किसी माथे के शृंगार-सा, शायद किसी आँचल के अंगार-सा···और देखते ही देखते तेज रोशनी-सी करता हुआ वह बुझ गया—माथे का शृंगार पुछ गया, आँचल जल गया···!

उनके पैर डगमगाने-से लगे और वे आकर खाट पर गिर गए। कुछ क्षणों के लिए, आँखें ज़रा लग ही पाई थीं कि 'शिमला इन न्यूज़' के हॉकर्स ने गला फाड़-फाड़कर शिमले को सिर पर ही उठा लिया ! अखबार के एक कोने में कुछ लिखा है, जिसका भाव है—

छपते-छपते। गई रात के भीषण अंधड़ और तूफान में एक रिक्शे वाला, माल के किनारे, रिक्शा उलटने से मर गया !

···माल पर तेज़ कदम रखते हुए, वृद्ध ने महसूस किया कि सारे ही जीवन की चोटें आज एक साथ उन पर ब्याज-सहित आघात कर रही हैं ! सामने वही मोटी-मोटी शाखों वाला घना पेड़ है, टूटा-फूटा रिक्शा वहीं पड़ा है जहाँ बैठकर कल उन्होंने अपने जीवन के विकराल अभिशाप से साक्षात्कार किया था !

वहाँ से हटते-हटते विस्फारित नेत्रों से उन्होंने देखा—जहाँ कल उनके आँसू गिरे थे, वहीं छितराए हुए खून के कुछ छींटे !

ज़रा-से फासले पर, सड़क से थोड़ा हटकर एक छोटी-सी भीड़ जमा है। वहाँ एक चुनी हुई चिता पर एक युवक का मृत शरीर रखा है और श्वेत वस्त्र पहने एक वृद्धा चिता के समीप बैठी धाड़ मारकर रो रही है! लोगों की भीड़ से निकलकर एक वृद्ध ने, मृतक का माथा चूमकर चितामें आग सुलगा दी!

झुलसती-सी वृद्धा ने सिर उठाया और बेतहाशा चीखी—"तुम कौन होते हो जो…?"

"मैं…?" वृद्ध ने जो स्वयं अपने लिए अब पहेली न होकर, दूसरों के लिए एक पहेली बन गया है—वृद्धा की ओर उन्मुख होते हुए कहा।

"तुम…!" वृद्धा को सम्पूर्ण भूमंडल कम्पन करता-सा लगा। विस्मृत स्मृतियाँ भटकती-सी लौटीं? अतीत के चलचित्र एक के बाद एक, उसकी भरी-भरी आँखों के सामने से डूबते-उतराते निकलते चले गए! स्मृति की मिटी रेखाएँ फिर एक बार जुड़ीं और इतना ही उसके मुँह से निकल सका—"हाय रे, भाग्य की विडम्बना! एक अभागा बाप अपने बेटे की चिता सुलगा रहा है…" और पछाड़ खाकर वहीं गिर पड़ी।

चिता ने आग पकड़ ली है, धू-धूकर जल उठी और उसकी लपटें आकाश से जा मिलीं। एक चील झुलसती-सी, चीखती-चिल्लाती, ऊपर से निकल गई!

